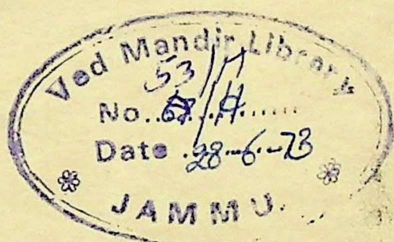
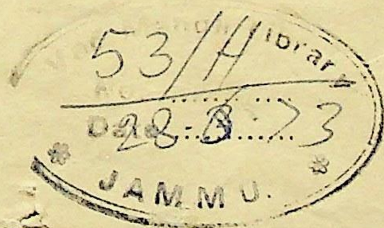
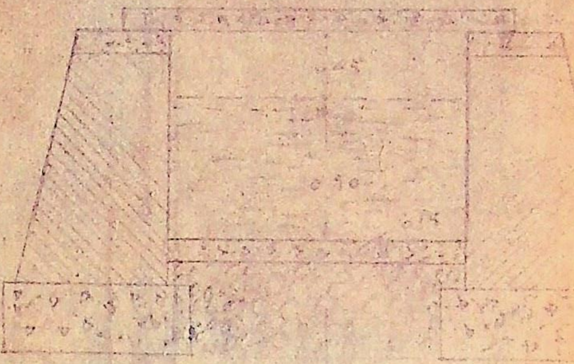








591.092

0.15

0.15

1.50

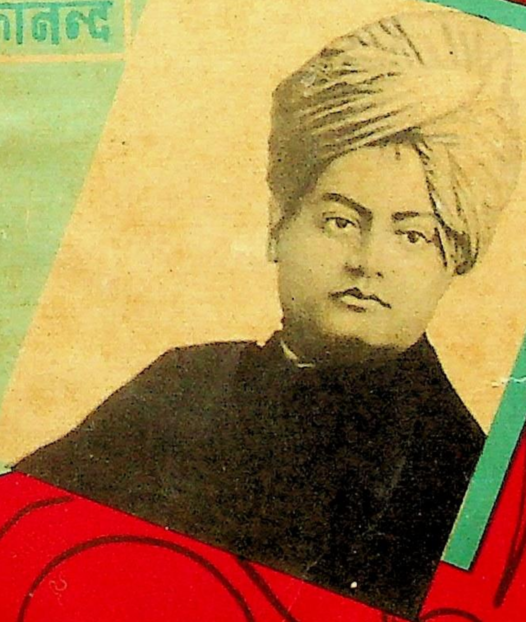
585.444

.45

585.944

हापुरुषों की
ीवनगाथाएँ

विवेकानन्द



श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर

·7·8·

महापुरुषों की जीवनगाथाएँ

स्वामी विवेकानन्द

(चतुर्दश संस्करण)



श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धंतोली, नागपुर–१.

अनुवादक—
श्री. हरिवल्लभ जोशी,
एम्. ए.

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प २८ वाँ

[व ७० : प्र १०५]

मूल्य रु. १.७५

मुद्रक—
श्री. डो. पै. देशमुख
बजरंग मुद्रणालय,
कर्नलबाग, नागपुर–२.

वक्तव्य

'महापुरुषों की जीवनगाथाएँ' पुस्तक का यह चतुर्दश संस्करण है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द के कुछ उन व्याख्यानों का संग्रह है, जो उन्होंने अमेरिका में संसार के कुछ अवतारों एवं महान् आत्माओं की जीवनी तथा उनके उपदेशों पर दिये थे। ये व्याख्यान प्राच्य संस्कृति और विशेष कर भारतीय शिक्षा-दीक्षा एवं सभ्यता के विशेष द्योतक हैं। महान् अवतारों की जीवनी की विवेचना एवं मीमांसा जिस प्रकार स्वामीजी ने की है, वह बड़ी अमूल्य तथा अपने ढंग की है। इससे पाठकों के वैयक्तिक चरित्रगठन को संजीवनी प्राप्त होती है और जनसमुदाय तथा समाज के लिए भी यह लाभदायक है। विद्यार्थियों तथा किशोर छात्रों का इन उदार एवं महान् जीवन-चरित्रों से बड़ा ही हित होगा।

नागपुर
३०-६-१९७०

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका



स्वामी विवेकानंद

महापुरुषों की जीवनगाथाएँ

रामायण

(३१ जनवरी, १९०० ई. को कैलिफोर्निया के अन्तर्गत पैसाडेना नामक स्थान में 'शेक्सपियर–सभा' में दिया गया भाषण)

गीर्वाण भारती का भण्डार शत-शत काव्य-रत्नों से परिपूर्ण है, किन्तु उनमें दो महाकाव्य अत्यन्त प्राचीन हैं। यद्यपि आज दो सहस्र वर्षों से संस्कृत बोल-चाल की भाषा नहीं रही है, तथापि उसकी साहित्य-सरिता आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है। मैं आज उन्हीं दो प्राचीन महाकाव्यों––रामायण और महाभारत––के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करूँगा। इन दोनों महाकाव्यों में प्राचीन आर्यावर्त की सभ्यता और संस्कृति, तत्कालीन आचार-विचार एवं सामाजिक अवस्था लिपिबद्ध है। इन महाकाव्यों में प्राचीनतर 'रामायण' है, जिसमें राम के जीवन की कथा कही गयी है। रामायण के पूर्व भी संस्कृत में काव्य का अभाव न था। भारतीयों के पवित्र धर्मग्रन्थ वेदों का अधिकांश पद्यमय ही है, किन्तु सर्वसम्मति से भारतवर्ष में रामायण ही आदिकाव्य माना जाता है।

इस आदिकाव्य के प्रणेता हैं––आदिकवि महर्षि वाल्मीकि। कालान्तर में अनेक काव्यमय आख्यायिकाओं का कर्तृत्व भी उन्हीं आदिकवि पर आरोपित किया गया और बाद में तो इस महाकवि के नाम से अपनी रचनाएँ प्रचलित करने की एक प्रथा-सी चल

पड़ी। किन्तु इन सब क्षेपकों और प्रक्षिप्तांशों के होते हुए भी, रामायण हमें अत्यन्त सुग्रथित रूप में प्राप्त हुई है और वह विश्वसाहित्य में अप्रतिम है।

प्राचीन काल में किसी निबिड़ वन-प्रदेश में एक युवक निवास करता था। वह अत्यन्त बलवान और दृढ़ था। जब वह किसी भी प्रकार अपने आत्मीयों का भरण-पोषण करने में सफल न हुआ, तो अन्त में उसने दस्यु-वृत्ति स्वीकार कर ली। अब वह पथिकों पर आक्रमण करता और उनकी सम्पत्ति लूटकर अपने माता-पिता और स्त्रीं-पुत्रादि का उदर-पोषण करता। इस प्रकार कई वर्ष बीत गये। एक समय की बात है कि संयोगवश महर्षि नारद मर्त्यलोक का भ्रमण करते हुए उसी वन में से निकले और उस दस्यु युवक ने उन पर आक्रमण किया। महर्षि ने उससे पूछा, "तुम मुझे क्यों लूट रहे हो? मनुष्यों का धन अपहरण करना और उनका वध करना तो एक बड़ा जघन्य दुष्कृत्य है। तुम क्यों यह पाप संचय कर रहे हो?" दस्यु ने उत्तर दिया, "मैं इस अपहृत धन द्वारा अपने कुटुम्बियों का पालन करता हूँ।" देवर्षि नारद यह सुनकर बोले, "दस्युयुवक! क्या तुमने कभी इस बात का भी विचार किया है कि तुम्हारे आत्मीय जन तुम्हारे पाप में भी सहभागी होंगे?" दस्यु बोला, "निश्चय ही वे सब मेरे पाप का भाग भी ग्रहण करेंगे।" इस पर देवर्षि बोले, "अच्छा, तुम एक काम करो। मुझे इस वृक्ष से बाँध दो और घर जाकर अपने स्वजनों से जरा पूछो तो कि जिस प्रकार वे तुम्हारे पापाचरण द्वारा प्राप्त वित्त का उपभोग करते हैं, उसी प्रकार क्या तुम्हारे संचित पापों का अंश भी ग्रहण करेंगे?" दस्यु दौड़ता हुआ अपने पिता के पास पहुँचा और उसने पूछा, "पिताजी,

क्या आप जानते हैं, मैं किस प्रकार आपका पालन-पोषण करता हूँ?" पिता बोले, "नहीं तो।" तब वह बोला, "मैं दस्यु हूँ—पथिकों को काल के पास पहुँचाकर मैं उनका धन अपहृत कर लिया करता हूँ।" पिता ने यह सुना, तो क्रोध से आरक्तनयन हो बोले, "नीच! पापी!! कुलांगार!!! तू मेरा पुत्र होकर यह पापकृत्य करता है! दूर हट मेरे सामने से, और अब मुझे अपना काला मुँह न दिखाना।"

दस्यु यह सुन उलटे पैरों वहाँ से लौटकर अपनी माँ के पास पहुँचा। उसने माँ से भी दस्युवृत्ति द्वारा अपहृत धन से कुटुम्ब-पालन करने की कथा कह सुनायी। माँ यह सुनते ही चीत्कार कर बोल उठी, "उफ! कितना घोर दुष्कर्म!" पर दस्यु के पास यह सब सुनने का धैर्य कहाँ था! उसने अधीर होकर पूछा, "पर माँ! क्या तुम मेरे पाप का भी भाग ग्रहण करोगी?" माँ ने अम्लमान मुख से कहा, "कौन मैं? मैं क्यों तुम्हारे पाप का भाग ग्रहण करूँ? मैंने थोड़े ही किसी को लूटा है!" माँ का उत्तर सुन दस्यु चुपचाप अपनी पत्नी के पास पहुँचा। उसने पुनः वही प्रश्न दुहराया, "क्या तुम जानती हो, मैं किस भाँति तुम्हारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ?" जब पत्नी ने भी 'नहीं' कहा, तो दस्यु बोला, "तो सुन लो। मैं एक दस्यु हूँ—एक डाकू और लुटेरा हूँ। वर्षों से मैं पथिकों को लूट लूटकर तुम सबका उदर-पोषण कर रहा हूँ। और आज मैं तुमसे यह पूछने आया हूँ कि क्या मेरे पाप में मेरी सहभागी बनोगी?" पत्नी ने तत्क्षण उत्तर दिया, "नहीं—कदापि नहीं! तुम मेरे पति हो और मेरा पालन करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम किसी भी भाँति अपनी कर्तव्यपूर्ति क्यों न करो, मैं तुम्हारे कार्यों का

अशुभ फल ग्रहण नहीं करूँगी ।"

दस्यु ने जब यह सुना, तो उसके पैरोंतले की जमीन खिसक गयी । पर अब उसकी आँखें खुल गयी थीं । उसने कहा, "यह है इस स्वार्थपूर्ण संसार की रीति ! जिनके लिए मैं यह पापकृत्य कर रहा हूँ,वे मेरे आत्मीय भी मेरे प्रारब्ध के भागी नहीं होंगे।"यही सोचते सोचते वह उस स्थान पर आया, जहाँ उसने देवर्षि को बाँध रखा था, और उन्हें बन्धनमुक्त कर वह उनके पदाम्बुजों में पतित हो, आद्योपान्त सारी घटना सुनाकर बोला, "प्रभो ! मेरी रक्षा करो—मुझे सन्मार्ग दिखाओ !" तब महर्षि नारद ने उसे स्नेहपूर्ण वाणी में उपदेश दिया, "वत्स ! इस पापपूर्ण दस्युवृत्ति का परित्याग कर दो । तुमने देख लिया है कि तुम्हारे स्वजनों का तुमसे यथार्थ में स्नेह नहीं है, इसलिए इन सब मोहपूर्ण भ्रान्तियों का त्याग कर दो । तुम्हारे परिवारजन तुम्हारे ऐश्वर्य में तुम्हारा साथ देंगे पर जिस क्षण उन्हें ज्ञात हो जायगा कि तुम दरिद्र हो गये हो, उसी क्षण वे तुम्हें तुम्हारे दुःख में अकेला छोड़कर चले जायँगे । संसार में सुख और पुण्य के भागी तो अनेकों हो जाते हैं, किन्तु दुःख और पाप का साथी कोई नहीं होना चाहता । इसलिए उस दयानिधि परमेश्वर की उपासना करो, जो सुख-दुःख, पाप-पुण्य सभी अवस्थाओं में तुम्हारा साथ देता है और रक्षा करता है । वह कदापि हमारा परित्याग नहीं करता, क्योंकि उसका प्रेम यथार्थ है, और यथार्थ प्रेम में कभी विनिमय नहीं होता—वह स्वार्थपरता से कोसों दूर रहता है और आत्मा को उन्नत बनाता है ।"

तदुपरान्त देवर्षि नारद ने उस दस्यु युवक को ईश्वरोपासना की विधि सिखलायी । उनके उपदेशों से प्रभावित हो दस्यु का

हृदय मोहशून्य हो गया और वह सर्वस्व परित्याग कर सघन अरण्यप्रदेश में साधना करने चला गया। वहाँ ईश्वराराधना और ध्यान में वह धीरे धीरे इतना तल्लीन हो गया कि उसे देहज्ञान भी न रहा, यहाँ तक की चींटियों ने उसकी देह पर अपने वाल्मीक बना लिये और उसे इसका भान तक न हुआ। अनेक वर्ष व्यतीत हो जाने पर एक दिन दस्यु को यह गम्भीर ध्वनि सुनायी पड़ी "उठिए, महर्षि, उठिए।" वह चकित होकर बोल उठा, "महर्षि? नहीं--मैं तो एक अधम दस्यु हूँ।" फिर वही गम्भीर वाणी उसे सुनायी दी, "अब तुम दस्यु नहीं रहे--अब तुम्हारा हृदय पवित्र हो गया है, तुम अब तपोपूत महर्षि हो और आज से तुम्हारे पापों के नाश के साथ साथ तुम्हारा वह पुराना नाम भी लुप्त हो जायगा। तुम्हारी समाधि इतनी गहरी थी, तुम ईश्वर-ध्यान में इतने तल्लीन हो गये थे कि तुम्हारी देह के चतुर्दिक जो वल्मीक बन गये, उनका तुम्हें ज्ञान तक न हुआ! इसलिए आज से तुम वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध हुए।" इस प्रकार वह दस्यु ध्यान और तपस्या के बल से एक दिन महर्षि वाल्मीकि के नाम से विख्यात हो गया।

और जिस प्रकार इस विगत-मोह महर्षि के हृदय से काव्य-सरिता बह निकली, उसकी कथा इस प्रकार है। एक दिन पवित्र भागीरथी-सलिल में अवगाहनार्थ जाते हुए महर्षि ने एक क्रौंच-मिथुन को प्रणयकेलि में मग्न हो परस्पर का आलिंगन करते हुए परमानन्द में मग्न देखा। महर्षि इस प्रणयक्रीड़ा को देखकर अतीव हर्षित हुए, किन्तु उसी क्षण उनके समीप से एक सनसनाता हुआ तीर निकला, जिसने नर क्रौंच को विद्ध कर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर दी। उसे भूमि-पतित देखकर क्रौंच-वधू

शोकाभिभूत हो उसकी मृत देह के चतुर्दिक मँडराने लगी। महर्षि यह करुण दृश्य देख शोकविह्वल हो गये, और जब उनकी दृष्टि इस क्रूर कर्म के कर्ता निष्ठुर वधिक की ओर गयी, तो उनके दुःख और शोक का आवेग, उनके हृदय की करुणा इस निम्न श्लोक का रूप धारण कर उनके मुख से निःसृत हो गयी--

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौन्ञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

वे बोल उठे, "हे व्याध ! हे क्रूर पाषाणहृदय व्यक्ति ! क्या तुममें बिन्दुमात्र भी दयाभाव नहीं है, जो तुम्हारे कठोर हाथ प्रणय-क्रीड़ामग्न दो भोले पक्षियों को देखकर क्षण के लिए भी अपना विध्वंस-कार्य करते न रुके? जाओ--तुम्हारे हृदय को अनन्त काल तक भी शान्ति प्राप्त न हो!"

मुख से इस श्लोक के निर्गत होते ही महर्षि मन में सोचने लगे, "यह क्या है? यह मैं क्या बोल रहा हूँ? इसके पूर्व तो कभी मैं इस प्रकार नहीं बोला था?" उसी समय उन्हें एक वाणी सुनायी दी, "वत्स, डरो मत, आज तुम्हारे हृदय की विगलित करुणा कविता बन प्रकट हो रही है, और तुम लोककल्याण के लिए ऐसी ही काव्यमय भाषा में राम के चरित्र का वर्णन करो।" इस प्रकार प्रथम कविता की सृष्टि हुई। इस प्रकार विश्व के इस अप्रतिम महाकाव्य--भारतीयों के आदिकाव्य--रामायण की रचना प्रारम्भ हुई। प्रथम कवि वाल्मीकि के हृदय की करुणा ही विश्व के आदि-काव्य का आदि-श्लोक बन गयी और उसके बाद महर्षि ने परम मनोहर रामायण-महाकाव्य की रचना की।

भारतवर्ष में अयोध्या नाम की एक सुन्दर नगरी थी, जो आज भी विद्या मान है। भारत के मान-चित्र में आपने देखा होगा,

जिस प्रान्त में इस नगरी का स्थान-निर्देश किया गया है, उसे आज भी अवध ही कहते हैं। यही प्राचीन अयोध्या थी। वहाँ पुरातन काल में राजा दशरथ राज्य करते थे। उनका अन्तःपुर तीन रानियों से सुशोभित था, किन्तु अब तक राजा को पुत्र के मुखावलोकन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए धर्मपरायण हिन्दुओं की भाँति, राजा अपनी तीनों रानियों सहित, पुत्रकामना से व्रतोपवास धारण कर देवाराधना करते हुए दिनयापन करने लगे। कालान्तर में राजा को चार पुत्ररत्न प्राप्त हुए। उनमें सबसे ज्येष्ठ राम थे। चारों राजकुमार अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। उन्होंने शीघ्र ही सभी विद्याओं में प्रवीणता सम्पादित कर ली।

उसी युग में एक और राजा थे, जिनका नाम जनक था। उनके सीता नामक एक अनिन्द्य-सुन्दरी कन्या थी। सीता एक खेत में मिली थी; वे सर्वंसहा पृथ्वी की पुत्री थीं—उनके जन्म-दाता कोई नहीं थे। प्राचीन संस्कृत में 'सीता' शब्द का अर्थ होता है—हलकृष्ट भूमिखण्ड, जोती हुई भूमि। भारत के प्राचीन पुराणों में इस प्रकार के अलौकिक जन्मों की अनेक कथाएँ मिलती हैं। पुराणों में सर्वत्र ऐसे व्यक्तियों का वर्णन मिलता है, जिनका जन्म केवल पिता से ही हुआ है या माता से, या जिनके कोई जनक-जननी ही न थे—जिनका जन्म मखाग्नि से हुआ या कृष्टभूमि से हुआ—मानो ये व्यक्ति आकाशगामी बादलों से गिरकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गये हों।

सीता तो पृथ्वी-सुता ही थीं, अतएव वे निष्कलंक और शुद्ध थीं। राजा जनक ने उनका लालन-पालन किया। जब सीता आसन्नयौवना हुईं, तो राजा ने उनके लिए एक सुयोग्य वर

शोकाभिभूत हो उसकी मृत देह के चतुर्दिक मँडराने लगी। महर्षि यह करुण दृश्य देख शोकविह्वल हो गये, और जब उनकी दृष्टि इस क्रूर कर्म के कर्ता निष्ठुर वधिक की ओर गयी, तो उनके दुःख और शोक का आवेग, उनके हृदय की करुणा इस निम्न श्लोक का रूप धारण कर उनके मुख से निःसृत हो गयी––

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौन्ञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

वे बोल उठे, "हे व्याध ! हे क्रूर पाषाणहृदय व्यक्ति ! क्या तुममें बिन्दुमात्र भी दयाभाव नहीं है, जो तुम्हारे कठोर हाथ प्रणय-क्रीड़ामग्न दो भोले पक्षियों को देखकर क्षण के लिए भी अपना विध्वंस-कार्य करते न रुके? जाओ––तुम्हारे हृदय को अनन्त काल तक भी शान्ति प्राप्त न हो!"

मुख से इस श्लोक के निर्गत होते ही महर्षि मन में सोचने लगे, "यह क्या है? यह मैं क्या बोल रहा हूँ ? इसके पूर्व तो कभी मैं इस प्रकार नहीं बोला था? " उसी समय उन्हें एक वाणी सुनायी दी, "वत्स, डरो मत, आज तुम्हारे हृदय की विगलित करुणा कविता बन प्रकट हो रही है, और तुम लोककल्याण के लिए ऐसी ही काव्यमय भाषा में राम के चरित्र का वर्णन करो।" इस प्रकार प्रथम कविता की सृष्टि हुई। इस प्रकार विश्व के इस अप्रतिम महाकाव्य––भारतीयों के आदिकाव्य––रामायण की रचना प्रारम्भ हुई। प्रथम कवि वाल्मीकि के हृदय की करुणा ही विश्व के आदि-काव्य का आदि-श्लोक बन गयी और उसकेबाद महर्षि ने परम मनोहर रामायण-महाकाव्य की रचना की।

भारतवर्ष में अयोध्या नाम की एक सुन्दर नगरी थी, जो आज भी विद्या मान है। भारत के मान-चित्र में आपने देखा होगा,

जिस प्रान्त में इस नगरी का स्थान-निर्देश किया गया है, उसे आज भी अवध ही कहते हैं। यही प्राचीन अयोध्या थी। वहाँ पुरातन काल में राजा दशरथ राज्य करते थे। उनका अन्त:पुर तीन रानियों से सुशोभित था, किन्तु अब तक राजा को पुत्र के मुखावलोकन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए धर्मपरायण हिन्दुओं की भाँति, राजा अपनी तीनों रानियों सहित, पुत्रकामना से व्रतोपवास धारण कर देवाराधना करते हुए दिनयापन करने लगे। कालान्तर में राजा को चार पुत्ररत्न प्राप्त हुए। उनमें सबसे ज्येष्ठ राम थे। चारों राजकुमार अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। उन्होंने शीघ्र ही सभी विद्याओं में प्रवीणता सम्पादित कर ली।

उसी युग में एक और राजा थे, जिनका नाम जनक था। उनके सीता नामक एक अनिन्द्य-सुन्दरी कन्या थी। सीता एक खेत में मिली थी; वे सर्वंसहा पृथ्वी की पुत्री थीं—उनके जन्म-दाता कोई नहीं थे। प्राचीन संस्कृत में 'सीता' शब्द का अर्थ होता है—हलकृष्ट भूमिखण्ड, जोती हुई भूमि। भारत के प्राचीन पुराणों में इस प्रकार के अलौकिक जन्मों की अनेक कथाएँ मिलती हैं। पुराणों में सर्वत्र ऐसे व्यक्तियों का वर्णन मिलता है, जिनका जन्म केवल पिता से ही हुआ है या माता से, या जिनके कोई जनक-जननी ही न थे—जिनका जन्म मखाग्नि से हुआ या कृष्टभूमि से हुआ—मानो ये व्यक्ति आकाशगामी बादलों से गिरकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गये हों।

सीता तो पृथ्वी-सुता ही थीं, अतएव वे निष्कलंक और शुद्ध थीं। राजा जनक ने उनका लालन-पालन किया। जब सीता आसन्नयौवना हुईं, तो राजा ने उनके लिए एक सुयोग्य वर

ढूँढ़ना चाहा ।

प्राचीन भारत में विवाह की 'स्वयंवर' नामक एक प्रथा थी, जिसमें राजपुत्रियाँ स्वयं अपने पति का निर्वाचन करती थीं। देश के विभिन्न प्रदेशों से राजपुत्र-जन निमन्त्रित किये जाते थे और पतिवरा राजकुमारी सुन्दर वस्त्राभरण-विभूषिता हो, कर में वरमाला धारण कर एकत्र राजपुत्र-समुदाय के मध्य जाती थी। उसके साथ विभिन्न राजपुत्रों की वंशावली एवं शौर्य-प्रताप से परिचित एक चारण रहता था, जो उसे विवाहेच्छु राजकुमारों के सम्मुख ले जाकर उनका बिरुद-गान करता था। राजकन्या जिस राजपुत्र को अपना हृदयेश्वर मनोनीत करती, उसके गले में वह वरमाला अर्पण कर देती थी और इसके बाद बड़े समारोह के साथ पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न होता था। इन स्वयंवरों में कभी कभी विवाहेच्छु राजपुत्रों के विद्या-बुद्धि-बल के परीक्षणार्थ कुछ विशेष प्रण भी निर्दिष्ट कर दिये जाते थे।

मिथिला की अनिन्द्यसुन्दरी राजकन्या से विवाह करने के लिए अनेक राजपुत्र उत्सुक थे। इस अवसर पर विशाल हर-धनु को भंग करने का प्रण रखा गया था। सभी राजपुत्र इस शौर्य-पूर्ण कार्य को सम्पादित करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करने लगे, किन्तु असफल रहे। अन्त में राम ने प्रचण्ड हर-धनु को अपने बलवान हाथों से उठाकर सहज ही में दो खण्डों में भंग कर दिया। इस प्रकार सीता ने दशरथ के पुत्र राम को वरमाला अर्पित कर दी; पुरजनों के आनन्द की सीमा न रही और आनन्दोत्सव के साथ राम और सीता की परिणय-क्रिया सम्पन्न हुई।

किसी राजा के निधन के पश्चात् राजपुत्रों में सिंहासन के लिए विग्रह न हो इसलिए उस युग में राजा के जीवनकाल में ही

किसी एक राजपुत्र को युवराज नियुक्त कर देने की प्रथा थी। जब राम अपनी नवोढ़ा रानी के साथ अयोध्या आ गये, तो दशरथ ने सोचा कि मैं अब वृद्ध हो चला हूँ और राम भी वयः-प्राप्त हो गये हैं, इसलिए ये युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिये जायँ। शीघ्र ही इस मंगलोत्सव की सारी तैयारियाँ हो गयीं और सारी नगरी में हर्ष की लहरें उमड़ पड़ीं। किन्तु इसी समय राजा की प्रियतमा राजमहिषी कैकेयी की एक परिचारिका ने राजा द्वारा किसी समय प्रदान किये गये दो वरों का स्मरण उसे करावया। किसी समय राजा दशरथ कैकेयी से अत्यंत प्रसन्न हो गये थे और उन्होंने उसे दो वर माँगने को कहा। वे बोले, "तुम कोई भी दो वर मुझसे माँग लो, और यदि उन्हें पूर्ण करना मेरी सामर्थ्य के बाहर न हुआ, तो मैं इसी क्षण उन्हें पूर्ण कर दूँगा।" किन्तु रानी ने उस समय कोई वर नहीं माँगा। वह तो यह घटना पूर्णतया भूल भी गयी थी, किन्तु उसकी दुष्ट-स्वभाव दासी ने उसके हृदय में ईर्ष्याग्नि प्रज्वलित कर दी। दासी ने रानी से कहा, "राम के युवराज हो जाने पर भरत का क्या होगा? कौशल्या जब राजमाता हो जायगी, तो तुम्हें कोई न पूछेगा। यदि भरत राज्य के उत्तराधिकारी बन जायँ, तो तुम राजमाता का गौरवमय स्थान प्राप्त करोगी और जीवन सुखपूर्ण हो जायगा।" दुष्ट दासी की मन्त्रणा से रानी ईर्ष्यावश उन्मत्तप्राय हो गयी। अब उस दुष्ट दासी ने उसे अपने वरदान लेने के अधिकार का स्मरण करवाकर कहा, "राजा से इन दो वरों की प्रार्थना करो कि भरत युवराजपद पर अभिषिक्त हों और राम चौदह वर्ष वनवास करें।"

राम तो राजा के जीवनधन थे--उनके प्राण और आत्मा थे। एक ओर राम के वियोग का दारुण दुःख और दूसरी ओर

प्रतिज्ञापालन का प्रश्न था––रघुकुल की मर्यादा की रक्षा का सवाल था। 'रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जायँ पर वचन न जाई।' राजा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। तब राम ने राजा की इस उभय संकट से रक्षा की। वे स्वयं ही सिंहासन त्यागकर वन-गमन के लिए प्रस्तुत हो गये, जिससे पिता के वचन भंग न हों। इस प्रकार राम ने चतुर्दश वर्ष के लिए वन की ओर प्रस्थान किया––साथ में उनकी प्रिय भार्या पतिपरायणा सीता और अनुज लक्ष्मण भी थे, जो किसी भाँति राम का साथ नहीं छोड़ना चाहते थे।

उन दिनों आर्यों को यह ज्ञात नहीं था कि इन सघन वनकान्तारों में कौन निवास करते थे। वे इन वन्य जातियों को 'वानर' कहते थे, और इन तथाकथित 'वानरों' में या असभ्य वन्य जातियों में जो अत्यन्त दृढ़ और असाधारण बलसपन्न थे, उन्हें वे दैत्य या राक्षस कहते थे।

इस प्रकार राम, लक्ष्मण और सीता ने वानरों और राक्षसों द्वारा अध्युषित वन में गमन किया। इसके पूर्व जब सीता ने राम के साथ वन में प्रयाण करने की अभिलाषा प्रकट की, तो राम ने कहा, "राजप्रासाद में निवास करनेवाली हे सीते! तुम किस प्रकार संकटपूर्णं वन-जीवन के कष्ट सह सकोगी?" किन्तु सीता बोलीं, "नाथ! जहाँ आप जायेंगे, वहाँ आपकी अर्धांगिनी सीता भी छाया की भाँति साथ रहेगी। आप मुझसे 'राजकन्या' 'राज-वंश-जन्म' की बातें क्यों कह रहे हैं? देव, मैं तो सदैव आपकी संगिनी ही बनकर रह सकती हूँ।" इस प्रकार असूर्यम्पश्या राजदारा सीता––आमोदपूर्ण राज-सौधों की वासिनी सीता ने पति के सग को अन्य आमोदों से अधिक सुखकर समझ राम

का साथ न छोड़ा और अनुज लक्ष्मण भी भला बन्धु का वियोग कैसे सह सकते थे ! वे भी उनके साथ ही गये !

वे गहन कान्तार-राजि पार कर गोदावरी-तीरवर्ती रमणीय पंचवटी नामक स्थान में पर्णकुटी बनाकर निवास करने लगे। राम और लक्ष्मण दोनों ही मृगया करने चले जाते और कुछ कन्द-मूल-फल भी संग्रह कर लाते। इस प्रकार निवास करते हुए कुछ काल व्यतीत हो जाने पर, एक दिन वहाँ लंकाधिपति राक्षसराज रावण की बहिन शूर्पणखा आयी। अरण्य में स्वच्छन्द विचरण करते करते उसे एक दिन राजीव-लोचन राम दृष्टिगत हुए। उनके रूप- लावण्य पर मुग्ध हो वह उनसे प्रणय की भिक्षा माँगने लगी। किन्तु राम एकपत्नी-व्रतधारी थे, पुरुषोत्तम थे, इसलिए राक्षसी की अभिलाषा पूर्ण करने में असमर्थ थे। इससे उसके हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठी। क्रुद्ध हो वह अपने भाई राक्षसराज रावण के पास पहुँची और उससे उसने सीता के अप्रतिम लावण्य की बात कही।

प्रचण्ड हर-धनु को भंग करने से राम की सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न पुरुष के रूप में ख्याति हो गयी थी। वे मर्त्यों में सबसे अधिक बलिष्ठ थे। राक्षसों और दैत्यों तथा अन्य किसी जीवधारी में उनसे लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। इसलिए राक्षसराज रावण को सीता का हरण करने के लिए अपनी राक्षसी माया का आश्रय लेना पड़ा। उसने एक अन्य राक्षस की सहायता ग्रहण की। वह राक्षस अत्यन्त मायावी था। उसने एक सुन्दर सुवर्ण-मृग का रूप धारण किया और राम की पर्णकुटी के सामने सुमनोहर नृत्य और अंगभंगी प्रदर्शित कर वह क्रीड़ा करने लगा। सीता उसके लावण्य पर मुग्ध हो गयीं और उन्होंने राम

से उसे पकड़ लाने की प्रार्थना की। राम ने सीता की रक्षा के लिए लक्ष्मण को वहीं छोड़ वन में मृग का पीछा करना शुरू किया। तब लक्ष्मण कुटी के चतुर्दिक एक मन्त्रपूत अग्निवृत्त प्रज्वलित कर सीता से बोले, "देवि! मुझे आज आपके कुछ अनिष्ट होने की आशंका हो रही है। इसलिए आप इस मन्त्रपूत अग्नि-वृत्त के बाहर पदार्पण न करें, अन्यथा आपका कुछ अशुभ घटित हो जायगा।" इधर राम ने अपने एक तीक्ष्ण शर से उस मायामृग को विद्ध कर दिया और वह तत्काल अपना स्वाभाविक रूप धारण कर पंचत्व को प्राप्त हो गया।

उसी क्षण पर्णकुटी के समीप राम का यह आर्त स्वर सुनायी पड़ा, "दौड़ो लक्ष्मण, मेरी सहायता के लिए दौड़ो।" सीता ने यह सुनकर लक्ष्मण से तत्काल राम की सहायतार्थ वन में जाने को कहा। लक्ष्मण बोले, "देवि! यह रामचन्द्र की कण्ठध्वनि नहीं है।" किन्तु सीता के बार बार सानुक्रोश अनुरोध करने पर लक्ष्मण राम की खोज में वन की ओर चले गये। उनके जाते ही राक्षसराज रावण साधु-वेष में कुटी के द्वार पर आ खड़ा हुआ और भिक्षा याचना करने लगा। सीता बोलीं, "आप कुछ क्षण प्रतीक्षा करें, तब तक मेरे स्वामी आ जाते हैं, फिर मैं आपको यथेष्ट भिक्षा दूँगी।" साधु बोला, "मैं अत्यन्त क्षुधार्त हूँ देवि! एक क्षण भी प्रतीक्षा करने में असमर्थ हूँ। आप मुझे जो आपके पास है, वही दे दें।" इस पर सीता कुटी में रखे हुए जो थोड़े-बहुत फल थे, उन्हें बाहर ले आयीं। जब छद्मवेषधारी साधु ने देखा कि वे अग्नि-वृत्त के भीतर से ही भिक्षा दे रही हैं, तो वह अत्यन्त विनयपूर्वक बोला, "देवि! काषायवस्त्रधारी साधुओं से क्या भय! आप बाहर पदार्पण कर

सुगमता से भिक्षा प्रदान करें।" इस अनुनय-विनय और अनुरोध भरी प्रार्थना से प्रभावित हो ज्योंही वे अग्नि-वृत्त के बाहर आयीं त्योंही उस छद्मपूर्ण साधु ने राक्षस-देह में प्रकट हो, सीता को अपने बलवान बाहुओं में उठा लिया। फिर उसने अपने माया-रथ का आह्वान किया और रोती हुई सीता को उसमें स्थापित कर वह लंका की ओर पलायन करने लगा। बेचारी नितान्त निस्सहाय सीता! उस समय वहाँ कौन था, जो उनकी सहायता करता? जब राक्षसराज उन्हें अपने रथ में ले जा रहा था, तो सीता ने मार्ग में कुछ कुछ अन्तर पर अपने अलंकार गिरा दिये।

रावण सीता को अपने राज्य––लंका––में ले गया। उसने सीता से अपनी राजमहिषी का पद सुशोभित करने का अनुरोध किया और अपनी प्रार्थना स्वीकृत कराने के लिए कई प्रकार के भय-प्रलोभनादि दिखाये। किन्तु सीता तो स्वयं सतीत्व-धर्म की विग्रहस्वरूप थीं। वे उस दुष्ट से बोलीं तक नहीं। रावण ने क्रुद्ध हो सीता को दण्डित करने के लिए जब तक वे उसकी पत्नी बनना स्वीकृत नहीं करतीं, तब तक उन्हें एक वृक्ष के नीचे दिवा-रात्र निवास करने के लिए बाध्य किया।

जब राम और लक्ष्मण को लौटने पर कुटी में सीता नहीं दिखीं, तो उनके शोक की सीमा न रही। सीता की क्या दशा हुई है, इसकी वे कल्पना तक न कर पाये। दोनों भ्राता वन के विजन कण्टकाकीर्ण मार्गों में सीता की खोज में भटकते रहे, पर सीता का कोई चिह्न न मिलता था। इस प्रकार दीर्घ काल तक वन-वन भटकने के पश्चात् उनकी एक 'वानर'-यूथ से भेंट हुई। इन्हीं वानरों में देवांशसम्भूत हनुमान थे। कालान्तर में ये ही वानरश्रेष्ठ हनुमान राम के अनन्य सेवक बन गये और उन्होंने

सीता के उद्धार में राम की विशेष सहायता की। राम के प्रति हनुमान की भक्ति और श्रद्धा इतनी अनन्य थी कि आज भी हिन्दू उन्हें परम गहन सेवाधर्म के आदर्श और प्रभु के अप्रतिम सेवक की भाँति पूजते हैं। यहाँ आप यह स्मरण रखें कि वानरों और राक्षसों से हमारा मतलब है--दक्षिण भारत के आदि-निवासी। हाँ, तो इस प्रकार अन्त में राम की वानरों से अचानक भेंट हो गयी। वे राम से बोले, "हमने आकाश-मार्ग से जाता हुआ एक रथ देखा। उसमें एक राक्षस था, जो एक परम सुन्दरी रमणी को बलपूर्वक ले जा रहा था। वह स्त्री अत्यन्त करुण विलाप कर रही थी और जब रथ हमारे ऊपर से गया, तो हमारा ध्यान आकर्षित करने के लिए उस स्त्री ने अपने रत्नाभरण हमारे पास फेंक दिये।" लक्ष्मण ने उन आभरणों को लेकर कहा, "मुझे ज्ञात नहीं ये किनके हैं।"

"नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।।"

राम ने उन्हें देखते ही पहचान लिया और वे बोल उठे, "अरे! ये तो सीता के ही हैं।" लक्ष्मण उन आभरणों को इसलिए नहीं पहचान सके कि भारत में ज्येष्ठ बन्धु की भार्या इतनी सम्मानपूर्ण दृष्टि से देखी जाती थी कि लक्ष्मण ने कभी उनकी बाहुओं एवं ग्रीवा-देश पर दृष्टिपात नहीं किया था। स्वाभाविकतया उन कण्ठहारादि को लक्ष्मण नहीं पहचान सके। इस कथा-भाग में भारत की उसी प्राचीन प्रथा का आभास पाया जाता है।

तदुपरान्त वानरों ने राम को रावण का नाम-धाम तथा पता बताया और वे सब सीता की खोज में राम की सहायता करने लगे।

उन्हीं दिनों वानरराज बालि एवं उनके अनुज सुग्रीव में सिंहासन के लिए विवाद हो रहा था। अमित-शक्तिशाली राम ने सुग्रीव की सहायता की और बालि से राज्य छीनकर उसके न्याय-पूर्ण अधिकारी—निर्वासित सुग्रीव को प्रदान कर दिया। सुग्रीव ने कृतज्ञ हो, राम को सहायता का वचन दिया। वानरों ने सारे देश को सीता की खोज में छान डाला, पर उनका कहीं भी पता न चला। अन्त में कपि-शार्दूल, पवन-सुत हनुमान ने एक ही छलाँग में विशाल उदधि पार कर, सीता को खोजने लंका में प्रवेश किया। किन्तु सर्वत्र अन्वेषण कर लेने पर भी सीता कहीं नहीं दिखीं।

आपको ज्ञात होगा, राक्षसराज रावण ने देव-मानवादि सब, यहाँ तक कि सकल ब्रह्माण्ड पर विजय पा ली थी। उसने विश्व की सुन्दर युवतियों को बलपूर्वक अपनी उपपत्नी बना लिया था। हनुमान ने सोचा, "सीता का उसके साथ राजप्रासाद में होना तो असम्भव है—ऐसे स्थान में वास करने की अपेक्षा तो वे मृत्यु को ही अधिक श्रेयस्कर समझेंगी। अतएव हनुमान अन्यत्र सीता की खोज करने लगे। अन्ततोगत्वा उन्होंने सीता को एक वृक्ष के नीचे देखा। कृशगात्री और पाण्डु-वर्ण सीता उन्हें क्षितिज में नवोदित प्रतिपदा की शशिकला-सी प्रतीत हुईं। हनुमान एक अल्पकाय क्षुद्र वानर का रूप धारण कर उस वृक्ष पर आसीन हो गये। वहाँ से उन्होंने देखा—किस प्रकार रावण द्वारा प्रेषित राक्षसीगण सीता को नाना प्रकार के भय दिखलाकर वशीभूत करने की चेष्टा कर रही हैं, किन्तु सीता दुष्ट रावण के नाम तक को कर्णगोचर न होने देती थीं।

उन लोगों के चले जाने पर, हनुमान सीता के समीप आकर बोले, "देवि ! रामचन्द्र ने आपके अन्वेषणार्थ मुझे अपना दूत

बनाकर भेजा है ।" तब हनुमान ने सीता को विश्वस दिलाने के लिए रामप्रदत्त मुद्रा दिखायी । उन्होंने सीता से यह भी विज्ञापित किया कि उनका पता लगते ही राम एक सागर-सी विशाल सेना लेकर राक्षस को पराजित करेंगे और उनका उद्धार करेंगे । यह सब निवेदन करनें के पश्चात् हनुमान बोले, "देवि, यदि आपको आपत्ति न हो, तो मैं अपने सुदृढ़ कन्धों पर आपको बिठा, एक ही छलाँग में विशाल उदधि को लाँघकर राम के पास पहुँचा दूँ ।" पर सीता तो स्वयं सतीत्व की प्रतिमा थीं––उन्हें तो परपुरुष-स्पर्श की कल्पना तक असह्य थी । इसीलिए वे वहीं रहीं, पर उन्होंने अपने केशों से एक मणि निकालकर राम तक पहुँचाने के लिए हनुमान को दे दिया । और हनुमान उसे लेकर लौट आये ।

हनुमान से सीता का संवाद पाकर, राम ने एक सेना संगठित की, और उसे ले भारत के सुदूर दक्षिण प्रदेश की ओर प्रयाण किया । वहाँ राम के आज्ञाकारी, स्वामी-भक्त वानरों नें एक विशाल सेतु का निर्माण किया । इसका नाम सेतु-बन्ध है । इससे भारत और लंका की सीमाएँ संलग्न हो गयीं । उथले पानी में अब भी भारत से लंका में इन बालुका-स्तूपों की सहायता से जाया जा सकता है ।

राम ईश्वर के अवतार थे, अन्यथा वे ये सब दुष्कर कार्य कैसे कर सकते थे ? हिन्दू उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर पूजते हैं । भारतीयों के मतानुसार वे ईश्वर के सातवें अवतार हैं ।

सेतु-निर्माण के समय वानरों नें पर्वत-खण्ड उखाड़ उखाड़ कर समुद्र में स्थापित कर दिये और उन्हें विशाल वृक्षों तथा शिलाओं से आच्छादित कर एक प्रचण्ड सेतु बात की बात में निर्माण कर लिया । कहा जाता है कि एक छोटीसी गिलहरी

भी बालुकाराशि में लोट लोटकर उस सेतु पर दौड़ती और अपना शरीर झाड़कर कुछ सिकताकण वहाँ बिखेर देती। इस प्रकार मिट्टी ला लाकर वह भी अपनी लघु-शक्ति के अनुसार उस बृहत् सेतु के निर्माणकार्य में राम को सहायता कर रही थी। वानरगण उसका यह कार्य देखकर हँसने लगे। वे तो विशालकाय पर्वतखण्डों, विस्तृत वन-प्रदेशों और बालुकाराशि को उठा उठाकर ला रहे थे; इसलिए बालू में लोट लोटकर संचित किये हुए एक-दो मिट्टी के कणों को विशाल सेतु पर झाड़ती हुई उस गिलहरी का वे उपहास करने लगे। पर जब राम ने गिलहरी के इस उद्यम को तथा वानरों के उपहास को देखा तो वे बोले, "इस अल्पकाय गिलहरी का मंगल हो। यह प्राणपण से अपनी समस्त शक्ति जुटाकर काम कर रही है इसलिए वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वानर से अंशमात्र भी न्यून नहीं है।" यह कहकर उन्होंने उस गिलहरी की पीठ स्नेहपूर्वक अपने हाथों से थपथपायी। और आज भी राम की उन अँगुलियों के चिह्न गिलहरी की पीठ पर दृष्टिगोचर होते हैं।

सेतुनिर्माण कार्य पूर्ण हो जाने पर राम और उनके अनुज लक्ष्मण द्वारा संचालित समस्त वानर-वाहिनी ने सागर पार कर लंका में प्रवेश किया। कई मास तक घमासान युद्ध और भीषण रक्तपात चलता रहा। अन्त में विजय-श्री राम के हाथ लगी, राक्षसराज रावण युद्ध में काम आया और उसकी राजधानी एवं उसके स्वर्णनिर्मित राजप्रासादों पर राम का आधिपत्य हो गया। आज भी जब मैं भारत के हृदय-प्रदेश में स्थित सुदूर ग्रामों में सरलहृदय ग्रामीणों से यह कहता हूँ कि मैंने लंका का भ्रमण किया है, तो वे कह उठते हैं—"अहा! रामायण में लिखा है

कि वहाँ सोने के महल हैं।" अस्तु ।

रावण के अनुज विभीषण की सहायता के प्रतिदान-स्वरूप स्वर्णमयी लंका प्रदान कर राम ने उसे राजसिंहासन पर आरोहित किया ।

तदनन्तर राम ने लक्ष्मण और सीता सहित लंका से प्रस्थान किया । किन्तु इसी समय उनके साथियों और अनुयायियों में एक असन्तोष की लहर दौड़ पड़ी । लोग सीता की पवित्रता पर सन्देह करने लगे । शनैः शनैः एक सामूहिक आवाज उठी, "परीक्षा! परीक्षा!! सीता ने अपनी पवित्रता की परीक्षा नहीं दी है।" राम को यह असह्य था। वे बोले, "सीता स्वयं पातिव्रत्य-धर्म की प्रतिमूर्ति हैं—उनकी परीक्षा कैसी?" पर लोग नहीं माने—वे अपनी बात पर अटल रहे । "हमें सीता की पावित्रता का प्रमाण चाहिए—हम परीक्षा चाहते हैं।" राम को जनमत के सामने झुकना पड़ा । निदान एक प्रचण्ड यज्ञाग्नि प्रज्वलित की गयी और सीता को उसमें प्रवेश करने की आज्ञा हुई। राम शोक से मुह्यमान हो रहे थे—उन्हें आशंका हो रही थी कि अब आमरण सीता का वियोग सहन करना पड़ेगा । किन्तु दूसरे ही क्षण सब ने विस्मित नयनों से देखा कि स्वयं अग्निदेव प्रकट हो गये हैं और उनके शीर्षस्थित सिंहासन पर वैदेही विराजमान हैं । अब सभी सन्तुष्ट हो गये और चारों ओर आनन्दोत्सव मनाया गया ।

राम ने जब वनवास के लिए अयोध्या का परित्याग किया था, तब उनके अनुज कैकेयी-सुत भरत अपने ननिहाल में थे । जब उन्हें अयोध्या लौटने पर राम के वन-गमन का दुःखद संवाद ज्ञात हुआ, तो वे अविलम्ब अरण्य में राम से मिलने निकल पड़े । उन्होंने राम से पिता के निधन का हृदयविदारक

संवाद कहा और उन्हें लौटकर सिंहासनासीन होने की प्रार्थना की। किन्तु राम सहमत न हुए। उन्होंने भरत को लौटकर धर्मपूर्वक शासन करने का उपदेश दिया। भरत ने ज्येष्ठ भ्राता के प्रति अपने परम अनुराग और भक्तिभाव के प्रतीकस्वरूप राम की पादुकाएँ सिंहासन पर रख दीं और स्वयं राम के प्रतिनिधि के रूप में राजकार्य सँभालने लगे। जब राम अयोध्या लौट आये, तो पुरजनों की अनुरोधपूर्ण अभ्यर्थना को स्वीकृत कर सिंहासन पर आरूढ़ हुए।

ज्रायाभिषेक के अवसर पर राम ने यथाविधान सब व्रत ग्रहण किये जो प्राचीन भारत में प्रजापालन एवं लोक-कल्याण के लिए आवश्यक समझे जाते थे। उस युग में राजा प्रजा का सेवक तथा दास समझा जाता था और उसे सदैव लोकमत का आदर करना पड़ता था——उसके सामने झुकना पड़ता था।

राम पुत्र की भाँति प्रजा का पालन करने लगे। इस प्रकार कुछ ही वर्ष उन्होंने सीता सहित सुखपूर्वक व्यतीत किये थे कि एक लोकापवाद की लहर पुन: उत्थित हुई। गुप्तचरों ने राम को सूचना दी कि प्रजा सीता की प्रवित्रता में सन्देह करती है, क्योंकि सीता को एक राक्षस ने हरण कर लिया था और वे सागर पार उसकी नगरी में रही हैं। उन्हें सीता की अग्नि-परीक्षा से सन्तोष न था। वे चाहते थे——सब के सामने एक नयी परीक्षा ली जाय, और नहीं तो सीता देश से निर्वासित कर दी जायँ।

जनता के सन्तोष-विधानार्थ राम ने कठोर हृदय कर अपनी प्राणप्रिय सीता को भी देश से निर्वासित होने की आज्ञा दे दी। अयोध्या की महारानी सीता परित्यक्ता होकर विलाप करती हुई विपिन में विचर रही थीं। रोरुद्यमान मैथिली पर

महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि पड़ी। उनकी करुण कथा सुनकर वे उन्हें अपने आश्रम में ले आये। सीता आसन्नप्रसवा थीं और कालान्तर में उन्होंने दो यमज पुत्रों को जन्म दिया। आदिकवि वाल्मीकि ने उन बालकों को उनका यथार्थ परिचय कभी नहीं दिया। उपयुक्त वय प्राप्त होने पर महर्षि ने उन्हें ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करवा यथाविधान शिक्षा देना आरम्भ किया।

इन्हीं दिनों महर्षि ने रामायण महाकाव्य की रचना की और उसे सुर-ताल से संयोजित कर एक रूपक तैयार किया।

भारत में नाटक एक अत्यन्त पवित्र वस्तु समझा जाता था। नाद एवं संगीत की साधना धर्मसाधना मानी जाती थी। लोगों की धारणा थी कि कोई भी गीत--चाहे वह प्रेमसंगीत हो या इतर-विषयक--यदि तन्मयतापूर्वक गाया जाय, तो उससे अवश्य मुक्ति-लाभ होगा। जो फल-निष्पत्ति ध्यान द्वारा प्राप्त होती है, वही संगीत की साधना से भी प्राप्त होती है।

वाल्मीकि ने रामायण पर एक रूपक आधारित किया और राम के दोनों पुत्रों को उसे स्वर-तालपूर्वक गाना और उसका अभिनय करना सिखाया।

भारत के प्राचीन नृपगण अश्वमेधादि बड़े बड़े यज्ञ किया करते थे; राम ने भी तदनुसार अश्वमेध करने का संकल्प किया। किन्तु भारत में किसी गृहस्थ को पत्नी बिना कोई भी धर्मानुष्ठान करने का अधिकार नहीं है। पत्नी को भारत में सहधर्मिणी का गौरव प्राप्त है। गृहस्थ को शत-शत धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, किन्तु जब तक उसकी सहधर्मिणी उसके साथ बैठकर उनमें योग नहीं देती, तब तक कोई अनुष्ठान विधिपूर्वक अनुष्ठित नहीं माना जाता।

सीता को तो देश-निर्वासन की आज्ञा दी जा चुकी थी, इसलिए लोगों ने राम से पुनः विवाह कर लेने की प्रार्थना की, किन्तु राम पुरुषोत्तम और एकपत्नी-व्रतधारी थे। इस समय वे जीवन में पहली बार जनमत के विरोध में खड़े हुए। वे बोले, "यह असम्भव है। मेरा जीवन तो सीता को समर्पित हो चुका है।" इसलिए शास्त्र-विधि का आदर रखने के लिए सीता के स्थान पर, उनकी प्रतिनिधिस्वरूप एक स्वर्ण-प्रतिमा आसीन कर दी गयी। इस महोत्सव में जनता में धर्मभाव एवं आनन्द-वर्धन के लिए नाटक और संगीतादि का भी आयोजन किया गया। राम के दोनों अज्ञात पुत्र लव और कुश को साथ लेकर महाकवि महर्षि वाल्मीकि भी इस अवसर पर आये थे। सभास्थल में एक रंगमंच शीघ्र ही निर्मित कर लिया गया था, और अन्य आवश्यक आयोजन भी पूर्ण कर लिये गये। सभा-मण्डप में राम और उनके भ्रातृगण, अमात्य-वर्ग तथा अयोध्या की सम्पूर्ण जनता उपस्थित थी। वाल्मीकि के निर्देशानुसार लव और कुश ने मधुर स्वरों में रामायण का गान और अभिनय आरम्भ किया। सारा जनसमुदाय उनकी वाणी और सुन्दरता पर मुग्ध हो गया। राम तो शोकोन्मत्त हो रहे थे और जब वैदेही-वनवास का प्रसंग आया, तो वे विह्वल और किंकर्तव्य-विमूढ़ हो उठ खड़े हुए। तब महर्षि ने उनसे कहा, "राजन्, शोकार्त न होइए, मैं इसी क्षण सीता को आपके समक्ष उपस्थित कर देता हूँ।" तब सीता सभामंच पर लायी गयीं और राम अपनी परित्यक्ता पत्नी को पुनः पाकर अतीव हर्षित हुए; किन्तु इसी क्षण वही पुराना असन्तोष फिर जनता में प्रकट हो गया। 'परीक्षा, परीक्षा' की आवाज आने लगी। दीना सीता

पुनः पुनः अपने शुद्ध चरित्र पर किये गये इस कठोर, अपमान-पूर्ण सन्देह से इतनी आहत और कातर हो गयी थीं कि अब यह उनके लिए असह्य हो गया। वे अपनी पवित्रता की साक्ष्य देने के लिए कातर स्वर में देवगणों की प्रार्थना करने लगीं, और इसी समय पृथ्वी विभक्त हो गयी; सीता ने उच्च स्वर में कहा "यह लो मेरी परीक्षा"—और सदा के लिए उस विवर में प्रविष्ट हो गयीं। पृथ्वी-तनया सीता सदा के लिए अपनी जननी की गोद में सो गयीं। इस दुःखान्त घटना से लोग अवसन्न हो गये और राम शोक से मुह्यमान हो गये।

सीता के अन्तर्धान के कुछ दिन पश्चात् देवताओं का एक दूत राम के पास आकर बोला, "प्रभो ! पृथ्वी पर आपका कार्य अब पूर्ण हो गया, इसलिए आप स्वधाम वैकुण्ठ पधारें।" यह संवाद सुनकर राम की निज-स्वरूप-स्मृति जाग्रत हो गयी। अयोध्या की समीपवर्तिनी सरिद्वरा सरयू के जल में देह विसर्जन कर राम वैकुण्ठ में सीता से मिल गये।

यह है भारत का महान् आदिकाव्य। राम और सीता भारतीय राष्ट्र के आदर्श हैं। सभी बालक-बालिकाएँ, विशेषतः कुमारियाँ सीता की पूजा करती हैं। भारतीय नारी की उच्चतम महत्त्वाकांक्षा यही होती है कि वह सीता के समान शुद्ध, पति-परायणा और सर्वसहिष्णु—सर्वंसहा बने ! इन महान् पुरुषों के चरित्र का अध्ययन करने पर आपको सहज ही प्रतीत होने लगता है कि भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में कितना महान् अन्तर है। भारतीय राष्ट्र और समाज के लिए सीता सहिष्णुता के उच्चतम आदर्श के रूप में हैं। पश्चिम कहता है, "कर्म करो—कर्म द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ।" भारत कहता है,

"सहिष्णुता द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ—दुःख कष्टों को सहन करना सीखो।" मनुष्य कितने अधिक भौतिक पदार्थों—विषयों का स्वामी बन सकता है, इस समस्या की पूर्ति पश्चिम ने की है; किन्तु मनुष्य में कितना त्याग करने की क्षमता है—इस प्रश्न का उत्तर भारत ने दिया है। आप देखते हैं—दोनों आदर्श परस्पर-विरोधी भावों की चरम सीमा हैं। सीता भारतीय आदर्श—भारतीय भाव की प्रतिनिधि हैं, मूर्तिमती भारतमाता हैं। सीता वास्तव में जन्मी थीं या नहीं, रामायण की कथा किसी ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है या कपोलकल्पित—इन प्रश्नों पर हमें विचार नहीं करना है। किन्तु कम से कम इतना तो सत्य है कि सहस्रों वर्षों से सीता का चरित्र भारतीय राष्ट्र का आदर्श रहा है। ऐसी अन्य कोई पौराणिक कथा नहीं है, जिसने सीता के चरित्र की भाँति पूरे भारतीय राष्ट्र को आच्छादित और प्रभावित किया हो, उसके जीवन में इतनी गहराई तक प्रवेश किया हो, जो जाति की नस-नस में उसके रक्त की एक एक बूँद में इतनी प्रवाहित हुई हो। भारतवर्ष में जो कुछ पवित्र है, विशुद्ध है, जो कुछ पावन है, उस सब का 'सीता' शब्द से बोध हो जाता है। नारी में जो नारीजनोचित गुण माने गये हैं, 'सीता' शब्द उन सब का परिचायक है। इसलिए जब ब्राह्मण किसी कुल-वधू को आशीर्वाद देते हैं तो कहते हैं—'सीता बनो'। जब किसी बालिका को आशीर्वाद देते हैं तो कहते हैं—'सीता बनो'। वे सब सीता की सन्तान हैं—जीवन में उनका एकमेव प्रयत्न यही होता है कि वे सीता बनें—सीता-सी शुद्ध, धीर और सर्वंसहा, सीता-सी पतिपरायणा और पतिव्रता बनें। जीवन में सीता ने इतने कष्ट सहे, इतनी वेदनाएँ सहीं, किन्तु

राम के विरुद्ध उनके मुँह से एक कठोर शब्द तक न निकला, हृदय से एक आह तक न निकली। वे उसे अपना कर्तव्य जानकर सहती जाती हैं—अपने जीवन के करुण नाटक में धैर्यपूर्वक अभिनय करती रहती हैं। सीता का अरण्य-निर्वासन ! जरा सोचिये तो, कितना घोर अन्यायपूर्ण, अविचारपूर्ण कार्य था यह। पर सीता ने यह भी सह लिया—उनके हृदय में लेशमात्र भी कटुता उत्पन्न नहीं हुई। यह तितिक्षा ही भारतीय आदर्श है। भगवान बुद्ध ने कहा है, "यदि तुम्हें कोई आहत करता है और तुम उसे प्रतिकार में आहत करने के लिए अपना हाथ उठाते हो, तो इससे तुम्हारे घाव को आराम नहीं होगा—हाँ, संसार के पापों में एक वृद्धि अवश्य हो जायगी।" सीता इस भारतीय आदर्श की सच्ची प्रतिनिधि हैं। अत्याचारों के प्रतिशोध का विचार तक उनके हृदय में नहीं आया।

कौन जानता है, इन दोनों आदर्शों में कौन सत्य और उच्च है—पाश्चात्यों की यह आपात-प्रतीयमान शक्ति और चमक-दमक, या प्राच्यों की कष्ट-सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा ?

पश्चिम कहता है, "हम दुःखों का प्रतिकार कर, अपनी शक्ति से उन्हें विजित कर उनका नाश करते हैं।" भारत कहता है, "हम भी दुःखों का नाश करते हैं, किन्तु उनके प्रतिकार से नहीं—उन्हें सहन करने की क्षमता उत्पन्न करने से; और धीरे धीरे यही दुःख और कष्ट हमारे लिए आनन्द की वस्तु बन जाते हैं।" शायद दोनों ही आदर्श महान् हैं; पर कौन जानता है, अन्ततोगत्वा कौनसा आदर्श जीवित रह सकेगा—किस आदर्श की जय होगी ? कौन जानता है, किस आदर्श से मानवजाति का

अधिकतर यथार्थ कल्याण सम्पादित हो सकेगा ? किसे ज्ञात है, कौनसा आदर्श मनुष्य की पाशविकता को निर्वीर्य कर उस पर विजय पा सकेगा—सहिष्णुता, क्षमा और तितिक्षा, अथवा क्रियाशीलता, शक्ति एवं प्रतिकार ?

और इसलिए हमें परस्पर के आदर्श को नष्ट करने की ये घृणित चेष्टाएँ तो छोड़ देनी चाहिए। हम दोनों का लक्ष्य एक ही है—मानव-दुःख-निवारण, दुःखों का क्षय और नाश। आप अपनी प्रणाली के अनुसार कार्य करें और हमें अपने अनुसार करने दें। किसी भी आदर्श प्रणाली या मत को उड़ा देने से काम नहीं चलेगा। मैं पश्चिम से यह नहीं कह रहा हूँ कि तुम हमारा मार्ग अपना लो। कभी नहीं। लक्ष्य एक है, किन्तु साधनमार्ग सदैव ही भिन्न रहेंगे। और इसलिए भारतीयों के आदर्श तथा संस्कृति का यह ज्ञान प्राप्त करने पर मुझे आशा है, आप भारत को सम्बोधीत कर कहेंगे, "हम जानते हैं—हम दोनों का लक्ष्य एक ही है, और इस लक्ष्य तक पहुँचने के हमारे मार्ग भी समान रूप से उपयोगी हैं, इसलिए बन्धुओ, तुम अपने आदर्श का अनुकरण करो, अपने लक्ष्य पर चलो। तुम अपने साधनपथ पर प्रस्थान करो—ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें।" इस जीवन में पूर्व और पश्चिम दोनों को मेरा यही सन्देश है कि विभिन्न आदर्शों पर वृथा विवाद न करो—तुम्हारे आदर्श केवल भिन्न प्रतीयमान मात्र होते हैं—वास्तव में तो वे एक ही हैं। और इसलिए जीवन के इन ऊँचे-नीचे टेढ़-मेढ़े रास्तों में, जीवन की इस चक्करदार भूलभुलैया में मार्गक्रमण करते हुए, परस्पर मंगल-कामना करते हुए, परस्पर का अभिवादन कर कहें, "ईश्वर तुम्हारी लक्ष्य-सिद्धि में सहायक हो।"

महाभारत

(कैलिफोर्निया के अन्तर्गत पैसाडेना की 'शेक्सपियरसभा' में दिया हुआ भाषण—१ फरवरी, १९०० ई.)

जिस दूसरे महाकाव्य के सम्बन्ध में मैं आज आपके सम्मुख बोलनेवाला हूँ, वह महाभारत है। इसमें दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र राजा भरत के वंश का आख्यान वर्णित है। महान् का अर्थ होता है बड़ा अर्थात् गौरवसम्पन्न, और भारत का अर्थ है भरत के वंशज—वह भरत, जिसके नाम से हमारे देश का नामकरण भारत हुआ है। इसलिए महाभारत शब्द का अर्थ महान् भारत देश, या भरत के महान् वंशजों का आख्यान होता है। कुरुओं का प्राचीन राज्य ही इस महाकाव्य की रंगभूमि है, और कुरु-पाँचालों का महासंग्राम ही कथा की भित्ति है। अतएव युद्ध-प्रभावित क्षेत्र का विस्तार अधिक नहीं है। यह महाकाव्य भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय है, और भारतीय जीवन पर इसका उतना ही प्रभाव पड़ा है, जितना कि यूनान देश में होमर-प्रणीत काव्य का। ज्यों ज्यों युगों ने करवटें बदलीं, मूल महाभारत के कलेवर में भी वृद्धि होती गयी। और अन्त में उसके श्लोकों की संख्या एक लाख तक पहुँच गयी। नानाविध, आख्यायिका-उपाख्यान, पौराणिक गाथाएँ, दार्शनिक निबन्ध इतिहास और विविध प्रकार के विविध विषयों पर विचार इत्यादि, समय समय पर उसमें इतने अधिक संयोजित कर दिये गये हैं कि आज यह एक विशाल, प्रचण्डकाय महाग्रन्थ बन गया है, पुरन्तु मूल कथा की रूपरेखा इन सब अवान्तर प्रसंगों में भी सुरक्षित रखी गयी है।

महाभारत की मूल कथा का विषय है—भारत के विशाल साम्राज्य के आधिपत्य के लिए एक ही वंश की दो शाखाओं—कौरवों और पाण्डवों का युद्ध।

आर्यगण छोटे छोटे दल बनाकर भारत में आये। धीरे धीरे आर्यजाति की ये विभिन्न शाखाएँ समूचे देश में इतस्ततः फैलने लगीं और वे यहाँ के एकमेव प्रतिद्वन्द्वी-विहीन शासक बन गये, और अन्त में एक ही वंश की दो शाखाओं में साम्राज्य लाभ के लिए यह संघर्ष उठ खड़ा हुआ। आपमें से जिन्होंने गीता का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि उसका प्रारम्भ दो युद्धोद्यत सेनाओं द्वारा अधिकृत युद्धक्षेत्र के वर्णन से ही होता है। यही वह महाभारत का संग्राम है।

कुरुवंशीय महाराज विचित्रवीर्य के दो पुत्र थे, ज्येष्ठ धृतराष्ट्र और कनिष्ठ पाण्डु। धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे। भारतीय स्मृतिशास्त्र के विधानानुसार अन्ध, खंज, विकलांग, क्षयी या अन्य किसी प्रकार स्थायी-व्याधि-युक्त व्यक्ति पैतृक धन का उत्तराधिकारी नहीं बन सकता, उसे केवल अपने निर्वाह-योग्य खर्च पाने का ही अधिकार है। इसलिए धृतराष्ट्र ज्येष्ठ होने पर भी सिंहासन प्राप्त न कर सके और पाण्डु ही सम्राट् अभिषिक्त हुए। धृतराष्ट्र के सौ और पाण्डु के केवल पाँच पुत्र हुए। पाण्डु के यौवनकाल में ही स्वर्गवास के पश्चात् धृतराष्ट्र कुरुदेश के राजा बने, और उन्होंने अपने पुत्रों के साथ ही पाण्डु के पुत्रों का लालन-पालन किया। पुत्रगण जब वयःप्राप्त हुए, तो महान धनुर्धारी विप्र दोणाचार्य को उनकी शिक्षा-दीक्षा का भार सौंपा गया और क्षत्रियोचित अस्त्र-विद्या एवं धर्म-शास्त्रों में वे पारंगत हो गये। राजपुत्रों की शिक्षा समाप्त होने पर धृतराष्ट्र

ने पाण्डवों में जेष्ठ युधिष्ठिर को युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। युधिष्ठिर की निष्ठा एवं सदाचार, तथा उनके भ्रातृवृन्द का शौर्य-वीर्य और ज्येष्ठ भ्राता के प्रति उनकी असीम भक्ति देखकर अन्ध राजा के पुत्रों के हृदय में द्वेषाग्नि प्रज्वलित हो गयीं और उनमें से ज्येष्ठ दुर्योधन की कुटिलता तथा कौशल से पाँचों पाण्डु, पुत्रों को एक धर्म-महोत्सव में सम्मिलित होने के बहाने-वारणावत नगर में आने के लिए छलपूर्वक राजी कर लिया गया। वहाँ दुर्योधन की अज्ञानुसार सन, लाख, तेल, घृत आदि प्रज्वलनशील द्रव्यों से निर्मित एक प्रासाद में उनके निवास की व्यवस्था की गयी और कुछ दिनों बाद एक रात को उस जतुगृह को चुपचाप आग लगा दी गयी। किन्तु धृतराष्ट्र के वैमात्रेय बन्धु धर्मात्मा विदुर को दुर्योधन और उसके अनुचरों के दुष्ट हेतु का पता लग गया था और उन्होंने पाण्डवों को इस षड़यन्त्र से सावधान रहने की सूचना दे दी थी। अतः वे आत्मरक्षणार्थ चुपचाप उस जलते हुए गृह से निकल भागे। कौरवों ने लाक्षागृह को जलकर भस्म होते देख सन्तोष की साँस ली और सोचने लगे कि इतने दिनों बाद अब मार्ग के सब कण्टक दूर हो गये। उन्होंने राज्य अपने हाथों में ले लिया। पाँचों पाण्डव अपनी जननी कुन्ती को साथ ले वन-वन भटकने लगे। वे भिक्षा माँगकर जीवन-यापन करते, और अपने को ब्रह्मचारी ब्राह्मण बताकर वेष बदले घूमते रहे। वन में उन्हें अनेकानेक कष्टों का सामना करना पड़ा; उन्होंने अनेक रोमांचकारी साहसपूर्ण कृत्य किये। अपने साहस, शौर्य-वीर्य और धैर्य से वे सब विघ्नों पर विजय पाते गये। इस प्रकार जीवन व्यतीत करते करते एक दिन उन्हें समीप-वर्ती पांचाल देश की राजकन्या के स्ववंवर की वार्ता ज्ञात हुई।

गत रात्रि मैंने इस स्वयंवर-प्रथा का उल्लेख किया था। इन स्वयंवरों के अवसर पर विभिन्नदेशीय राजकुमार गण आमन्त्रित किये जाते थे और राजकन्या उनमें से किसी एक को पुष्पमाला अर्पित कर अपना पति निर्वाचित कर लेती थी। अपने आगे-आगे भाट और चारण लेकर, विवाहार्थी राजकुमारी हाथ में पुष्पमाला ले राजकुमारों के समीप जाती और उन लोगों के मुख से राजकुमारों की कुल-मर्यादा, रणकौशल्य आदि की प्रशंसा सुनती। फिर जिसे वह अपना पति मनोनीत करती, उसे पुष्पहार अर्पित कर वह अपनी अभिलाषा प्रकट करती। इसके बाद वह समारोह विवाहोत्सव का रूप ले लेता था।

महाराज द्रुपद पांचाल देश के प्रबल अधिपति थे। और उनकी कन्या द्रौपदी के लावण्य, गुण और शील की ख्याति देश-देशान्तर में फैली थी। उसी के स्वयंवर का संवाद पाण्डुपुत्रों को मिला।

स्वयंवर में सदैव कोई न कोई प्रण रखा जाता था। किसी विशेष प्रकार के अस्त्र-कौशल्य और शौर्य-प्रदर्शन की शर्त रखी जाती थी और उद्वहनाभिलाषी कुमार को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनी पड़ती थी। इस अवसर पर एक अत्युच्च स्थान पर एक कृत्रिम मत्स्य लक्ष्य के रूप में लटकाया गया; मत्स्य पर एक सन्तत गतिमान चक्र था, जिसके केन्द्र में एक छिद्र था; और उसके नीचे भूमि पर एक जलपात्र रखा गया। अब जलपात्र में मत्स्य का प्रतिबिम्ब देख गतिमान चक्र के मध्य-छिद्र में से तीर छोड़कर मत्स्य का चक्षु विद्ध करने में जो सफल होगा, उसीसे द्रुपद-सुता का विवाह करने की पांचालराज ने प्रतिज्ञा की थी। राजकुमारी से विवाह-कामना करनेवाले एकत्र राजपुत्रगण

प्राणपण से लक्ष्य-वेध करने का प्रयत्न करने लगे, किन्तु कोई सफल न हुआ।

भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था प्रचलित है; कुल पुरोहित अर्थात् ब्राह्मणों का वर्ण श्रेष्ठ माना जाता है, उनके नीचे क्रम से क्षत्रियों —राजाओं और योद्धाओं, वैश्यों—वाणिज्य-व्यवसाय का अवलम्बन करनेवालों और शूद्रों या सेवकों की जातियाँ हैं। यह स्पष्ट ही है कि राजकुमारी द्रौपदी का जन्म द्वितीय वर्ण अर्थात् क्षत्रिय कुल में हुआ था।

जब सब राजकुमार लक्ष्य-वेधन में असफल हो गये, तो महराजा द्रुपद क्षुब्ध हो सभामण्डप में खड़े हो गये और बोले, "क्षत्रिय-कुमार मेरा प्रण पूर्ण न कर सके, अब अन्य जातियों के कुमार प्रतिस्पर्धा में सम्मिलित हो सकते हैं। ब्राह्मणकुमार हो, या वैश्य अथवा शूद्रकुलोत्पन्न हो—जो लक्ष्य-वेध कर देगा, वही द्रौपदी का स्वामी होगा।"

पाँचों पाण्डव भी ब्राह्मणों में बैठे हुए थे। अर्जुन धनुर्विद्या में पारंगत था। वह उठकर आगे बढ़ा। स्वभावतया ब्राह्मण शान्त और नम्रस्वभाव होते हैं। शास्त्रों के आदेशानुसार उनके लिए शस्त्र चलाना और साहसपूर्ण कृत्य करना निषिद्ध है। उनका सारा जीवन चिन्तन और अध्ययन, ध्यान-धारणा तथा संयम और इन्द्रिय-निग्रह में व्यतीत होता है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने संयत, नम्र और शान्त होते हैं। जब उन्होंने अर्जुन को उठते देखा, तो उन्हें भय लगा कि उसके इस कार्य से वे सब क्षत्रियों के क्रोधानल में नष्ट हो जायेंगे। इसलिए उन्होंने अर्जुन को अपने इस निश्चय से विचलित करने का प्रत्यन किया। किन्तु अर्जुन योद्धा था, उसने उनकी एक न

सुनी। उसने धनुष हाथ में उठाया, सहज ही में उसकी प्रत्यंचा चढ़ा ली, और चक्र के बीच में से तीर छोड़कर ठीक मत्स्य की आँख पर निशान लगा दिया।

अब तो चारों ओर हर्ष-सरिता उमड़ पड़ी। राजनन्दिनी द्रौपदी ने विजयी धनुर्धारी के समीप आ, उसके वक्ष को उस सुन्दर पुष्पमाला से अलंकृत कर दिया। किन्तु उपस्थित क्षत्रिय कुमारों की सभा में एक तुमुल कोलाहल मच गया। वे यह नहीं सहन कर सके कि एक दरिद्र ब्राह्मण उनके सामने विजयी होकर एक क्षत्रिय राजकुमारी का पाणिग्रहण कर ले। वे अर्जुन से युद्ध कर बलपूर्वक द्रौपदी को छीन लेना चाहते थे। पाँचों भाइयों ने सब राजपुत्र-वृन्द से घमासान युद्ध किया और विजयनाद करते हुए नव-वधू को घर ले आये।

ब्राह्मण भिक्षा-वृत्ति द्वारा निर्वाह करते हैं। ब्राह्मण के वेष में निवास करनेवाले पाण्डव भी घर से निकल भिक्षाटन द्वारा जो प्राप्त कर लाते, उसे माता कुन्ती के सुपुर्द कर देते, और वे ही उसका विभाजन करतीं।

पाँचों भाई राजकुमारी को साथ ले माता कुन्ती के पास कुटी पर लौट आये। वे हर्षोत्फुल्ल हो उन्हें पुकारने लगे, "माताजी, माताजी, आज हम एक अद्भुत भिक्षा घर लाये हैं।" माँ भीतर से ही बोलीं, "वत्स, पाँचों मिलकर उसका उपभोग करो।" जब कुन्ती ने राजकुमारी को देखा, तो घबराकर बोलीं, "अरे यह क्या, मैंने यह क्या कह दिया? यह तो एक कन्या है!" किन्तु अब क्या हो सकता था? जो कुछ माँ ने कह दिया, वह असत्य नहीं हो सकता था। माँ की आज्ञा थी—उसका पालन करना पुत्रों का धर्म था। उसने अब तक मिथ्या

भाषण नहीं किया था, इसलिए उसके ये शब्द कैसे मिथ्या किये जा सकते थे ? अतः द्रौपदी पाँचों भाइयों की पत्नी बनकर रहीं।

यह आपको भलीभाँति ज्ञात है कि हर एक जाति के विकास का एक इतिहास होता है और उसमें भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होती हैं। इस महाग्रन्थ की पार्श्व-भूमि में हमें उस अतीत की--अति पुरातन काल की एक झलक दिखती है। इस महान् काव्य के लेखक ने पाँचों भाइयों का एक स्त्री से पाणिग्रहण होने की घटना का उल्लेख तो अवश्य किया है, किन्तु उस पर एक पर्दा डालना चाहा है, उसके लिए एक बहाना--एक कारण खोजने का प्रयत्न किया है। वह कहता है--यह माँ की आज्ञा थी, जो पुत्रों को शिरोधार्य करनी पड़ी; इस विचित्र विवाह के लिए माँ की सम्मति प्राप्त थी, इत्यादि। किन्तु आप जानते हैं--हर एक राष्ट्र के विकास-क्रम में एक ऐसी अवस्था अवश्य रही है जिसमें बहुभर्तृत्व को मान्यता प्रदान की गयी थी, जब एक ही परिवार के सब भ्रातृगण मिलकर एक ही स्त्री के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। यह घटना उसी बहुभर्तृत्व-युग की एक झलक है।

इधर राजकन्या का सहोदर भ्राता अत्यन्त व्यग्र और चिन्तित हो रहा था। उसने सोचा, "ये व्यक्ति कौन हैं, मेरी सहोदरा भगिनी से विवाह-सूत्र में बद्ध होनेवाला यह पुरुष किस जाति का है ? उनके पास न रथ है, न घोड़े हैं, न और कुछ। उनके पास कोई वाहन भी नहीं है, वे सब पैदल ही यात्रा करते हैं।" यही सब जानने के लिए वह दूर से उनका पीछा करने लगा, और रात को उनका वार्तालाप सुनकर उसे पूर्ण विश्वास

हो गया कि वे क्षत्रिय ही हैं। जब महाराज द्रुपद को यह ज्ञात हुआ तो वे अत्यधिक प्रसन्न हुए।

पहले इस विवाह का घोर विरोध हुआ, परन्तु महर्षि व्यास ने यह स्पष्ट कर दिया कि ये राजकुमार इस प्रकार विवाह कर सकते हैं। महाराज द्रुपद को इस विवाह से सम्मत होना पड़ा, और द्रौपदी पाँचों भाइयों के साथ विवाहित जीवन व्यतीत करने लगीं।

अब पाण्डव विघ्न-बाधारहित शान्त और सुखी जीवन व्यतीत करने लगे, उनकी शक्ति भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रही। दुर्योधन और उसके अनुचर उनका अन्त करने के लिए फिर कई प्रकार के षड़यन्त्र रचने लगे, किन्तु गुरुजनों की नेक और नीतिपूर्ण सलाह शिरोधार्य कर महाराज धृतराष्ट्र को उनसे सुलह करने के लिए बाध्य होना पड़ा। पुरजनों की तुमुल हर्षध्वनि के बीच महाराज धृतराष्ट्र ने उन्हें सादर राज्य का आधा हिस्सा प्रदान कर दिया। पाँचों पान्डवों ने अपनी राजधानी बनाने के लिए इन्द्रप्रस्थ नामक एक सुन्दर नगर का निर्माण किया, और चारों ओर के माण्डलिकों को अपने अधीन कर अपने राज्य का विस्तार कर लिया। ज्येष्ठ बन्धु महाराज युधिष्ठिर ने स्वयं को प्राचीन भारत के सभी राजाओं का सम्राट घोषित करने के लिए राजसूय यज्ञ के आयोजन का निश्चय किया। इस प्रकार के यज्ञ में सभी पराजित राजाओं को यज्ञ भूमि में नजराने लेकर आना पड़ता था, और फिर वे राजभक्ति की शपथ ग्रहण कर, यज्ञ पूर्ण करने में सहयोग देते थे। श्रीकृष्ण भी इस समय तक उनके कुटुम्बी और मित्र बन चुके थे। उन्होंने आकर इस निश्चय की प्रशंसा की। किन्तु यज्ञ-पूर्ति में केवल एक ही बाधा

थी। जरासन्ध नामक एक राजा ने एक यज्ञ में सौ राजाओं की आहुति प्रदान करने के हेतु छियासी राजाओं को अपने कारागार में बन्द कर लिया था। श्रीकृष्ण ने जरासन्ध पर चढ़ाई करने की सलाह दी। कृष्ण, भीम और अर्जुन ने जाकर उसे युद्ध के लिए ललकारा। उनका आह्वान स्वीकार कर उसने भीम के साथ मल्लयुद्ध किया और चौदह दिन के अनवरत युद्ध के बाद उससे पराजित हो गया। इस प्रकार से राजागण कारा-मुक्त कर दिये गये।

अब चारों भाई अपनी विजय-वाहिनी लेकर चारों दिशाओं में अपनी विजय-पताका फहराने निकले। सभी राजाओं ने महाराज युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार कर ली। लौटकर उन्होंने युद्धार्जित विपुल धन-राशि, यज्ञ में व्यय करने के लिए ज्येष्ठ बन्धु के चरणों पर रख दी।

कारामुक्त राजाओं सहित भ्राताओं द्वारा विजित सभी नृपगण राजसूययज्ञ में सम्मिलित हुए और उन्होंने महाराज युधिष्ठिर का सम्राटोचित सम्मान किया। महाराज धृतराष्ट्र और उनके पुत्रगण भी इस समारोह में आमन्त्रित किये गये थे। यज्ञ समाप्त होने पर महाराज युधिष्ठिर सम्राट्-पद पर अभिषिक्त हुए और वे चक्रवर्ती घोषित किये गये। इसीसे महान् भावी संग्राम का बीजारोपण हुआ। दुर्योधन का हृदय महाराज युधिष्ठिर के असीम ऐश्वर्य, वैभव, सत्ता और अनन्त धनराशि को देखकर क्रोध व ईर्ष्या से जल-भुन गया। वह ईर्ष्या के वश होकर अपनी कुटिलता और कौशल्य से पाँचों पाण्डवों के सर्वनाश की कामना करने लगा, क्योंकि, शक्ति और बाहुबल से उन्हें जीतना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। राजा युधिष्ठिर को द्यूत-क्रीड़ा प्रिय थी और

कुसमय पर उन्हें दुर्योधन के कुमन्त्रणदाता एवं छद्मपूर्ण और कुटिल द्यूत-विद्या-विशारद शकुनि से खेलने का आह्वान किया गया। प्राचीन भारत में जब कभी क्षत्रिय को युद्ध की चुनौती दी जाती थी तो उसे अपनें मान-रक्षार्थ सब क्षति सहकर वह चुनौती स्वीकार करनी पड़ती थी। और यदि धूत-क्रीड़ा का आह्वान मिलता तो स्वीकार कर लेना गौरव-रक्षा का एकमेव मार्ग था और उसे अस्वीकृत करना उपहास का पात्र बनना था। महाभारत में महाराज युधिष्ठिर को 'धर्मराज' तथा सब सद्गुणों की प्रतिमा कहा गया है। परन्तु पूर्वोक्त कारण से राजर्षि होते हुए भी उन्हें उस चुनौती को स्वीकार करना पड़ा। शकुनि और उसके साथियों ने नकली पासे बनाये। युधिष्ठिर दाँव पर दाँव हारते गये, और क्षुब्ध, अधीर एवं दैवप्रेरित होकर वे खेलते ही गये और धीरे धीरे अपनी सारी सम्पत्ति और राजपाट को दाँव पर लगाकर हार गये। अब खेल के समाप्त होते होते, प्रतिस्पर्धी के पुनराह्वान से उत्तेजित होकर, उन्होंने और कुछ पास न बचने पर, बारी बारी से पहले चारों भाइयों को, फिर खुद को और अन्त में अनिन्दित द्रौपदी को भी दाँव पर लगा दिया और उन्हें हार गये। इस प्रकार कौरवों के कुटिल चक्र में फँसकर वे पूर्णतया उनके वशीभूत हो गये; वे अत्यन्त अपमानित किये गये और द्रौपदी के साथ भी कौरवों ने अमानुषिक दुर्व्यवहार किया। अन्ध राजा के बचाव करने से ही वे अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके, और उन्हें अपनी राजधानी में लौटकर फिर से शासन-सूत्र ग्रहण करने की अनुमति मिली। दुर्योधन ने देखा, यह तो बड़ी विपदा आ पड़ी। उसने वृद्ध पिता को बाध्य कर एक दाँव और खेल लेने की अनुमति माँग ली और यह निश्चित हुआ कि इसमें

जो हारेंगे, वे द्वादश वर्ष पर्यन्त वनवास स्वीकार करेंगे तथा एक वर्ष तक किसी शहर में अज्ञावतास करेंगे; किन्तु यदि इस अन्तिम वर्ष में उनके निवास-स्थान आदि का पता विजयी पक्ष को लग गया, तो विजित पक्ष को पुनः द्वादश वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास अंगीकार करना पड़ेगा और केवल इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् ही उन्हें राज्य लौटाया जायगा।

विधिवशात् युधिष्ठिर यह भी बाजी हार गये, और पाँचों पाण्डवों ने द्रौपदी को साथ ले, निर्वासित गृहविहीन व्यक्तियों के समान वन का आश्रय लिया। बारह वर्ष तक वे गहन अरण्यों और गिरि-गह्वरों में वास करते रहे। उन्होंने इस अर्से में कई धर्मपूर्ण व वीरोचित कृत्य किये, और दीर्घकाल तक तीर्थ-भ्रमण कर पवित्र क्षेत्रों का दर्शन करते रहे। महाभारत का यह अंश--वनपर्व--अत्यन्त मनोहारी व शिक्षाप्रद है और कितनी ही घटनाओं, आख्यायिकाओं तथा उपाख्यानों से परिपूर्ण है। इसमें प्राचीन भारत के धर्म और दर्शन सम्बन्धी अनेक उदात्त और सुन्दर कथाओं का संग्रह है। अनेक महर्षिगण पाँचों भाइयों को उनके दुःख और विपत्ति में सान्त्वना देने के लिए आते थे, और जिनसे वे इस दुःख के भार तथा वन के कष्टों को सरलता से सहन कर सकें, इस हेतु उन्हें प्राचीन भारत की अपूर्व कथाएँ सुनाते थे। मैं यहाँ उनमें से केवल एक ही कहानी कहूँगा।

अश्वपति नामक एक राजा थे। उनकी कन्या इतनी सुन्दर और सुशील थी कि उसका नाम ही सावित्री पड़ गया--सावित्री जो कि हिन्दुओं के एक अति पावन स्तोत्र का नाम है। युवती होने पर, सावित्री के पिता ने उसे अपना पति निर्वाचित करने के

लिए कहा। प्राचीन भारतीय महिलाएँ, जैसा आपने देखा है, अत्यन्त स्वतन्त्र थीं और अपना भावी जीवन-साथी स्वयं चुनती थीं।

सावित्री ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर ली और वह एक स्वर्णखचित रथ पर आरूढ़ हो पिता द्वारा साथ दिये गये अनुचरों और वृद्ध मन्त्रियों सहित, विभिन्न राजदरबारों में जा जाकर, कई राजकुमारों से भेंट करती रही, किन्तु उनमें से कोई भी उसका हृदय आर्कषित न कर सका। अन्त में वे लोग तपोवन-स्थित एक पवित्र मुनि-कुटीर में आये। प्राचीन भारत में ऐसे कई वन पशु-पक्षियों के लिए सुरक्षित रख दिये जाते थे-- वहाँ पशु-हिंसा निषिद्ध रहती थी। ये वनचर प्राणी सभी प्रकार से भयरहित हो जाते थे, यहाँ तक कि जलाशयों में मछलियाँ भी मनुष्य की हथेली सें खाद्यान्न ग्रहण कर लेती थीं। हजारों वर्षों से वहाँ पर किसी ने उन्हें सताया या मारा नहीं था। वहीं सन्त और वृद्ध जाकर मृगों और विहंगमों के बीच रहते थे। अपराधियों को भी वहाँ कोई भीति नहीं थी। जब मनुष्य जीवन से थक जाता, तो वह तपोवन में चला जाता, और सन्त-समागम कर, धर्म-चर्चा और ध्यान-जप में अपना शेष जीवन व्यतीत करता।

द्युमत्सेन नामक एक नृपति को उसकी वृद्धावस्था में शत्रुओं ने पराजित कर, उसका राज-पाट छीन लिया था। बेचारा राजा इस अवस्था में अपनी आँखें भी खो बैठा। मायूस और बेबस हो, इस वृद्ध अन्ध राजा ने अपनी रानी और पुत्र को साथ ले जंगल में शरण ली और कठोर व्रतोपवास में अपना जीवन बिताते लगा। उसके पुत्र का नाम सत्यवान था।

दैवयोग से सावित्री सारी राजसभाओं में जाने के बाद

इसी तपोवन में आ गयी। प्राचीन काल में तपोवननिवासी ऋषियों और महात्माओं के लिए जन-मन में इतनी श्रद्धा थी कि महान् से महान् राजा भी बिना महर्षियों के चरणों में प्रणिपात किये और आशीर्वाद लिये उस ओर से नहीं निकलता था। भारत में एक चक्रवर्ती सम्राट् भी, कन्द-मूल-फल खाकर, वल्कल धारण कर, किसी वन के कोने में स्थित छोटीसी कुटिया में रहनेवाले किसी ऋषि से अपने वंश का जन्म मानने में हर्ष और गौरव प्रतीत करता है। हम सब ऋषियों की सन्तान हैं। धर्म का इतना सम्मान और कहाँ हुआ है? यहाँ राजा भी तपोवन से गुजरते समय ऋषियों के चरणों में मस्तक झुकाने को अपना सौभाग्य समझते आये हैं। वे यदि अश्वारोहित रहते हैं, तो नीचे उतरकर आश्रम की ओर नंगे पैर जाने लगते हैं। यदि किसी रथ में वे रहते हैं, तो तपोवन में प्रवेश करते समय रथ और शस्त्रास्त्र पीछे ही छूट जाते हैं। कोई भी क्षत्रिय योद्धा उन पवित्र आश्रमों में केवल शान्तिप्रिय, नम्र और धर्मपरायण नागरिक की भाँति ही जा सकता है, अयन्था नहीं।

सावित्री ने कुटी में आकर राजतपस्वी सत्यवान के दर्शन किये, और मन ही मन उसे अपना हृदयेश बनाने का संकल्प कर लिया। राजसभाओं और राजप्रासादों के निवासी राजकुमार जिस सावित्री का मन मोहित न कर सके; उसी का हृदय आज वनवासी द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान ने चुरा लिया।

सावित्री लौटकर पितृगृह आ गयी। पिता ने पूछा, "वत्से बोलो, क्या कोई राजकुमार दिखा, जिससे तुम विवाह करना चाहोगी?" लज्जा से रक्तकपोल हो सावित्री विनयपूर्वक बोली, "हाँ, पिताजी।"

"तो, उस राजकुमार का क्या नाम है ?" "वे युवराज नहीं हैं––राजा द्युमत्सेन के पुत्र हैं, जो अपना राज्य खो चुके हैं। वे एक राजपुत्र हैं, जो राज्य-विहीन हैं, और आश्रम में कन्द-मूल-फल संग्रह कर, वनवासी माता-पिता के साथ तपस्वियों का जीवन व्यतीत करते हैं।"

दैवयोग से महर्षि नारद भी उस समय वहीं उपस्थित थे। इसलिए राजा ने उनकी इस विषय पर सलाह ली। महर्षि ने बताया कि यह निर्वाचन अत्यन्त अशुभ और अनिष्टकारक होगा। राजा ने महर्षि से इसका कारण बताने का अनुरोध किया।

महर्षि नारद बोले, "राजन्, आज से एक वर्ष में सत्यवान काल-कवलित हो जायगा।" राजा इस अनिष्ट की आशंका से भयग्रस्त हो सावित्री से बोले, "बेटी, सत्यवान का एक वर्ष में ही देहवसान हो जायगा और तुम्हें वैधव्य की दारुण यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। जरा विचार करो, पुत्री, और अपना निश्चय त्याग दो। इस प्रकार के अल्पायु और आसन्नमृत्यु वर से तुम्हारा विवाह किसी दशा में न होगा।"इस पर सावित्री ने उत्तर दिया, "कोई चिन्ता नहीं, पिताजी ! आप मुझसे किसी अन्य पुरुष के साथ विवाह-बद्ध हो अपना मानसिक पावित्र्य नष्ट करने का आग्रह न कीजिये। मैं साहसी और धर्मपरायण सत्यवान से प्रेम करती हूँ, और उन्हें अपने मन ही मन वरण कर चुकी हूँ। आर्य कन्याओं का विवाह जीवन में एक ही बार होता है और वे कभी संकल्पच्युत नहीं होतीं।" जब राजा अश्वपति ने देखा कि सावित्री अपने निश्चय पर अटल है, तो उन्हें बाध्य होकर सहमत होना पड़ा। सावित्री और सत्यवान विवाह-ग्रन्थि

में बँध गये, और वह अपने पति के साथ रहकर उसके माता-पिता की सेवा करने राजमहल को छोड़ वन में चली गयी।

सावित्री को अपने पति की मृत्यु की तिथि ज्ञात थी, पर उसने कभी भी उससे इसकी चर्चा न की। रोज वह गहन अरण्य में प्रवेश कर, फल-फूल संग्रह करता, ईंधन के लिए लकड़ी के बोझ बाँधता और कुटी पर लौट आता; वह भी भोजन बनाती और वृद्ध दम्पति की सेवा में रत रहती। इस प्रकार उनकी जीवन-धारा शान्त गति से बहती रही, और धीरे धीरे वह दुर्दिन समीप आ गया। जब केवल तीन ही दिन शेष रहे, तो सावित्री ने तीन रात्रियों का कठोर व्रतोपवास धारण कर लिया और वह निमिषमात्र भी नहीं सोयी। रातभर उसकी आँखों में नींद न थी, उसका हृदय रो रहा था, और आर्त स्वर में वह प्रभु की आराधना करती रही, पर उस भयकारक दिवस का प्रभाव आ ही पहुँचा। उस रोज एक क्षण भी सावित्री ने सत्यवान को अपनी आँखों के ओट नहीं होने दिया। जब वह ईंधन लाने बाहर जाने लगा, तो वह भी माता-पिता से अनुमति की याचना कर उसके साथ साथ गयी। अचानक लड़खड़ाते स्वर में सत्यवान ने मूच्छित होते हुए उससे कहा, "प्रिये, मुझे चक्कर आ रहा है, मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ अवसन्न हो रही हैं, मेरी सारी देह निद्राभिभूत हो रही है, मुझे अपने समीप थोड़ासा आराम करने दो।" भयाक्रान्त हो कम्पित स्वर में सावित्री बोली, "मेरे जीवन-धन, अपना सिर मेरी गोद में रखकर विश्राम कीजिये।" सत्यवान ने अपना ताप-तप्त सिर अपनी पत्नी की गोद में रखा, और एक दीर्घ श्वास लेते ही उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। सावित्री ने उसके शव को हृदय से लगा लिया और अश्रुपूर्ण नयनों से वह उस निर्जन में अकेली बैठी रही।

अब यमदूत सत्यवान की आत्मा को ले जाने वहाँ आये पर वे उस स्थान पर नहीं जा सके, जहाँ सावित्री अपने मृत पति को गोद में ले विलाप कर रही थी। उसके चारों ओर एक अग्नि-वृत्त-सा था, जिसे पार करने की उनमें क्षमता नहीं थी। वे सब वहाँ से भाग खड़े हुए, और मृत्युराज यम को सत्यवान की आत्मा लाने में असमर्थ होने का कारण बताने लगे।

तब मृतात्माओं के न्याय-कर्ता, स्वयं मृत्युराज यम उस स्थल पर आये। भारतीयों का विश्वास है कि यम आदि-मृतक अर्थात् इस पृथ्वी पर मृत्यु प्राप्त सर्वप्रथम व्यक्ति हैं। वे ही सब मर्त्य प्राणियों के अधिपति-पद पर आसीन हो गये हैं। वे इस बात पर विचार करते हैं कि मरणोत्तर जीवन में किस व्यक्ति को क्या दण्ड और पारितोषिक दिया जाय। यम देवता हैं, इसलिए वे सरलतापूर्वक उस अग्नि-चक्र के भीतर प्रवेश कर गये। सावित्री के समीप आ, वे बोले, "पुत्री, इस मृत देह को छोड़ दो। तुम तो जानती ही हो, सभी प्राणी मृत्युशील हैं। मैं स्वयं आदि-मृतक हूँ और तब से सभी प्राणियों को काल-कवलित होना पड़ता है। मानव के लिए मृत्यु ही विधि-विधान है।" यह सुनकर सावित्री कुछ दूर हट गयी और यमराज सत्यवान की आत्मा लेकर अपने लोक की ओर जाने लगे। वे थोड़े ही दूर गये थे कि उन्हें शुष्क पर्ण-राशि पर किसी की चरण-ध्वनि सुनायी दी। पीछे घूमकर उन्होंने देखा——सावित्री उनके पीछे आ रही थी। उन्होंने कहा, "पुत्री, तुम क्यों व्यर्थ मेरे पीछे आ रही हो? सभी देहधारियों को देह त्याग करना पड़ता है, मृत्यु ही मानव की नियति है।" सावित्री बोली, "पिताज़ी, मैं आपका अनुसरण कहाँ कर रही हूँ? यह तो नारी का अदृष्ट ही है कि जिस और उसका प्रिय पति

जायगा वह भी उसी ओर अनुगमन करेगी; और यह सनातन नियम है कि पतिव्रता स्त्री और पत्नीव्रत पति में कभी वियोग नहीं होता।" तब मृत्युदेवता प्रसन्न हो बोले, "पुत्री, अपने पति के जीवन के अतिरिक्त मुझसे कोई भी वर माँग लो।" सावित्री बोली, "यदि आपकी इतनी कृपा है, तो हे मृत्युदेव, मेरे श्वशुर दृष्टि प्राप्त कर सुखी रहें।" "तथास्तु, पुत्री" कहकर यमराज सत्यवान की आत्मा लिये मार्ग-क्रमण करने लगे। उन्हें फिर पीछे वैसी ही पद-ध्वनि सुनायी दी। पीछे घूमकर वे बोले, "पुत्री, तुम अब भी मेरा पीछा कर रही हो?" "हाँ, पितृवर," सावित्री बोली, "मैं बरबस पीछे पीछे खिंची चली आ रही हूँ। मैं अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर लौट जाने का प्रयत्न कर रही हूँ। किन्तु मेरा मन मेरे पति के पीछे जा रहा है और शरीर उसका अनुसरण कर रहा है। मेरी आत्मा तो पहले ही चली गयी है, क्योंकि मेरे स्वामी की आत्मा में मेरी भी आत्मा अवस्थित है; और जहाँ आत्मा जायगी, वहीं शरीर भी जायगा——यही नियति है।" इस पर यम बोले, "सावित्री, मैं तुम्हारी वाणी से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अपने स्वामी का जीवनदान छोड़कर तुम पुनः एक वर माँगो।" सावित्री बोली, "पिताजी, यदि आप प्रसन्न हैं, तो मेरे श्वशुर को अपना हारा हुआ राज्य वापस मिल जाय।" यम बोले, "वत्से, यह वर मैं तुम्हें देता हूँ——और अब तुम घर लौट जाओ, क्योंकि यमराज के साथ देहधारी नहीं चल सकते।" यम फिर चलने लगे; किन्तु शीलवती और पतिपरायणा सावित्री ने अब भी अपने मृत पति के पीछे चलना नहीं छोड़ा। यम ने फिर पीछे फिरकर उससे कहा, "हे मनस्विनी, हे सावित्री, इस प्रकार शोकाकुल हो पीछे-पीछे मत आओ।" सावित्री बोली, "विवश हूँ——जिधर आप

मेरे हृदयधन को ले जायेंगे, उस ओर जाने के सिवाय मेरे पास कोई चारा ही नहीं है।" "तब सावित्री, यदि तेरा पति पापात्मा रहता और नरकगामी होता, तो क्या तू भी उसके साथ नरक-वास करती ?" सावित्री बोली, "नरक हो या स्वर्ग, मृत्यु हो या जीवन--जहाँ मेरे स्वामी रहेंगे, वहाँ जाने में मुझे प्रसन्नता ही होगी।" यम बोले, "वत्से, तुम्हारी वचानवली अत्यन्त मनोहर और धर्म-संगत है। मैं तुम्हारे शब्दों से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे एक वर और माँग लो, किन्तु ध्यान रखो, मृत को जीवन दान नहीं मिला करता।" "यदि प्रभु की अनुमति है, तो मुझे वर दें कि मेरे श्वशुर का वंश नष्ट न होने पाये और इस राज्य पर सत्यवान का उत्तराधिकार सत्यवान के पुत्रों को प्राप्त हो।"

यमराज मुसकराये और बोले, "पुत्री तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो। यह लो सत्यवान की आत्मा--मैं उसे पुनर्जीवन प्रदान करता हूँ। सत्यवान के और तुम्हारे पुत्र ही राज-शासन करेंगे। अब घर लौट जाओ। आज प्रेम ने मृत्यु पर विजय पा ली है। नारीरत्न, तुम्हारा प्रेम अप्रतिम है और तुमने यह सिद्ध कर दिया कि मैं--मृत्युदेवता--भी शुद्ध अपरिवर्तनशील प्रेम की शक्ति के सामने निर्बल हूँ।"

यही सावित्री की कथा है और हर एक भारत-कन्या की यह आकाँक्षा रहती है कि वह उस सावित्री के समान बने, जिसके प्रेम ने मृत्यु पर भी विजय पा ली, जिसने सर्वविजयी प्रेम के द्वारा मृत्युदेवता यम के पास से भी अपने हृदयेश की आतमा का छुटकारा करवा लिया।

महाभारत ऐसी शत शत सुन्दर कथाओं से भरा पड़ा है।

मैंने प्रारम्भ में ही यह कह दिया था कि महाभारत का स्थान विश्व के श्रेष्ठतम ग्रन्थों में है। उसमें अठारह पर्व तथा प्रायः एक लाख श्लोक हैं। महाभारत की मूलकथा हम पाण्डवों के वनवास तक कह चुके हैं। वनवास में भी दुर्योधन ने पाण्डवों का पीछा नहीं छोड़ा, किन्तु उसका एक भी कुचक्र सफल नहीं हुआ।

अब मैं उनके वनवास के जीवन की एक कथा कहूँगा। एक दिन पाँच भाइयों को जंगल में प्यास लगी। युधिष्ठिर ने अपने भाई नकुल को पानी लाने की आज्ञा दी। वह किसी जलाशय की खोज में निकल पड़ा और शीघ्र ही एक स्वच्छ झील के सपीप आ पहुँचा। वह पानी को अपने अधरों से स्पर्श करने ही वाला था कि उसे यह ध्वनि सुनायी दी, "वत्स, ठहरो। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो और फिर पानी पीओ।" किन्तु नकुल अत्यन्त तृषाकुल था, उसने इन शब्दों की अवज्ञा कर पानी पी लिया और पीते ही वह मृत हो जमीन पर गिर पड़ा। जब नकुल बहुत देर तक नहीं लौटा, तो राजा युधिष्ठिर ने सहदेव को उसे खोजने और लौटते समय पानी लेते आने का आदेश दिया। सहदेव भी वहीं पहुँचा और भाई की मृत देह देखकर शोक-विह्वल तथा प्यास से व्याकुल हो वह जल के समीप गया। उसने भी वैसी ही ध्वनि सुनी, "हे वत्स, ठहरो। पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, और फिर पानी पीओ।" उसने भी इन शब्दों की अवहेलना की और अपनी प्यास बुझाकर भूमि पर गिर पड़ा। इसके पश्चात् क्रमशः अर्जुन और भीम इसी खोज में भेजे गये। पर वे भी अपनी प्यास बुझाने के प्रयत्न में धराशायी हो गये। जब कोई भी लौटता नहीं दिखा, तो युधिष्ठिर स्वयं अपने भाइयों

की खोज में जाने को उठ खड़े हुए। अन्त में उस मनोहर सरोवर के समीप आ उन्होंने अपने चारों बन्धु भूमि पर मरे हुए पाये। यह दृश्य देख उनका हृदक शोक-प्लावित हो गया और वे करुण रुदन करने लगे। अचानक उन्होंने उसी ध्वनि को फिर से कहते हुए सुना, "वत्स, अधीर होकर मूर्खता मत कर बैठना। मैं एक यक्ष हूँ और सारस के रूप में छोटी मछलियों पर निर्वाह करता हूँ। मेरे ही कारण तुम्हारे बन्धुगण यमलोक पहुँचे हैं। राजन्, यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर न दोगे, तो तुम्हारी भी मृत्यु अवश्यम्भावी है। कुन्तीपुत्र, पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करो, फिर तुम यथेच्छ जल पीओ और अपने साथ ले जाओ।" युधिष्ठिर बोले, "मैं अपनी बुद्धि के अनुसार आपके प्रश्नों का उत्तर प्रदान करूँगा। आप पूछिये।" फिर यक्ष ने उनसे कई प्रश्न पूछे, जिनके उन्होंने सन्तोषप्रद उत्तर दिये। उनमें से एक प्रश्न था, "किमाश्चर्यम् ?" अर्थात् विश्व में अत्याधिक आश्चर्य-कारक वस्तु क्या है ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया,

"अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति, किमाश्चर्यमतः परम्।"

अर्थात्, प्रतिक्षण हम प्राणियों को काल-कवलित होते देखते हैं, फिर भी जो जीवित हैं, वे सोचते हैं कि वे कभी नहीं मरेंगे। यही संसार में सर्वाधिक आश्चर्यकारक वस्तु है। मृत्यु के सामने खड़े रहने पर भी, किसी को भी यह विश्वास नहीं है कि वह मर जायगा !

यक्ष ने एक यह भी प्रश्न पूछा था, "कः पन्थाः" अर्थात् वह कौनसा मार्ग है, जिसका अनुसरण करने से मानव का यथार्थ कल्याण होगा ? महाराज युधिष्ठिर बोले,

"तर्कोऽप्रतिष्ठाः, श्रुतयो विभिन्नाः,
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।"

अर्थात् "तर्क से किती प्रकार के निश्चय पर नहीं पहुँच सकते, क्योंकि भिन्न भिन्न मत-मतान्तरों के भिन्न भिन्न तर्क हैं। श्रुतियाँ भी नानाविध परस्पर-विरोधी उपदेश करती हैं। कहीं भी ऐसे दो मुनि नहीं मिलेंगे, जिनमें मतभेद न हो। धर्म का रहस्य मानो निबिड़ तम-पूरित कन्दराओं में छिपा है। अतएव महापुरुषों ने जिस मार्ग से प्रयाण किया है, उसी का अनुसरण करना चाहिए।" यक्ष युधिष्ठिर के उत्तर सुन बोला, "राजन्, मैं आपसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं सारसरूप में धर्म हूँ और आपकी परीक्षा ले रहा था। देखिये, आपके बन्धुगण पूर्ववत् जीवित हैं। यह सब मेरी माया थी। हे भरतर्षभ, आप अर्थ-काम की अपेक्षा अहिंसा को श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिए आपके सब बन्धुगण जीवित हो उठें।" यक्ष द्वारा इन शब्दों का उच्चारण होते ही चारों पाण्डव उठ गये।

यहाँ महाराज युधिष्ठिर के स्वभाव और चरित्र की एक झलक दिखायी गयी है। उनके उत्तरों से हमें ज्ञात होता है कि वे एक राजा की अपेक्षा एक ज्ञानी, दार्शनिक और योगी ही अधिक थे।

इस समय देश-निर्वासन का तेरहवाँ वर्ष समीप आ रहा था, इसलिए यक्ष ने महाराज युधिष्ठिर को राजा विराट के राज्य में वेष बदलकर रहने की सम्मति दी।

बारह वर्ष की अवधि व्यतीत होने पर, वे एक वर्ष अज्ञात-वास के हेतु, भिन्न भिन्न वेष धारण कर, विराट के राज्य में गये

और वहाँ उसके महल में सामान्य भृत्य कार्य करने लगे। युधिष्ठिर द्यूत क्रीड़ा में चतुर थे, वे दरबार में ब्राह्मण-सभासद बन गये। भीम ने पाचक-कर्म अंगीकार किया। अर्जुन नपुंसक वेष धारण कर राजकन्या उत्तरा को संगीत और नृत्य की शिक्षा देता था और अन्तःपुर में निवास करता था। नकुल राजा की अश्व-शाला का प्रबन्धक नियुक्त हो गया। सहदेव ने गो-पालन का कार्य स्वीकार किया। द्रौपदी भी चेटी या सैरन्ध्री का वेष धारण कर राजा के अन्तःपुर में रहने लगीं। इसी प्रकार छद्म वेष में पाँचों पाण्डवों ने बारह महीने निर्विघ्न व्यतीत कर दिये और उनके अनुसन्धानार्थ किये गये दुर्योधन के प्रयत्न व्यर्थ गये। वर्ष के अन्त में ही उनका पता चल सका।

प्रकट होने के पश्चात् युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के निकट एक राजदूत भेजा और प्रार्थना की कि उनके हिस्से का आधा राज्य उन्हें सौंप दिया जाय। किन्तु दुर्योधन पाण्डवों से द्वेष करता था —उसने इस न्यायपूर्ण माँग की उपेक्षा की। पाण्डव तो एक प्रान्त नहीं—पाँच गाँव भी स्वीकार करने के लिए राजी थे किन्तु मूर्ख, जिद्दी और उद्धत दुर्योधन ने जवाब दिया कि बिना युद्ध के सुई की नोक बराबर भी भूमि नहीं मिल सकती। वृद्ध धृतराष्ट्र ने गृह कलह निवारणार्थ सन्धि करवाने का प्रयत्न किया, किन्तु व्यर्थ। कृष्ण ने भी जाकर इस आसन्नयुद्ध और ज्ञाति-नाश को टालने का यत्न किया। भीष्म, द्रोण आदि वृद्ध गुरुजनों ने भी शान्तिपूर्वक राज्य का विभाजन करने की चेष्टा की, किन्तु कोई सफलता न मिली। निदान दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं, विश्व के लड़ाकू राष्ट्रों ने अपने अपने पक्षों को सहायता दी और रणभेरी बज उठी।

युद्ध में क्षत्रियों की सभी प्राचीन भारतीय प्रथाओं का पालन किया गया। दुर्योधन ने एक पक्ष ग्रहण किया और युधिष्ठिर ने दूसरा। युद्धिष्ठिर ने तत्काल ही सभी पार्श्ववर्ती राजाओं को सन्देश भेजकर सहायता की याचना की, क्योंकि क्षत्रियों में यह प्रथा थी कि जिसका अनुरोध पहले प्राप्त होता, उसीका पक्ष वे ग्रहण करते थे। इस प्रकार, सभी ओर के योद्धाओं ने दोनों दलों के अनुरोध की पूर्वापरता के अनुसार पाण्डवों और कौरवों का पक्ष ग्रहण किया। एक भाई इस पक्ष की ओर से युद्ध कर रहा था, तो दूसरा उस पक्ष की ओर से; एक ओर पिता था, तो दूसरी ओर से पुत्र युद्ध के लिए खड़ा था। तत्कालीन युद्ध-नीति भी बड़ी अद्‌भुत थी। ज्योंही युद्धावसान होता और शाम आती, विरोधी दल अपना वैमनस्य भूल जाते, और मित्रों की भाँति परस्पर के शिबिरों में प्रवेश करने लगते। पर सूर्योदय होते ही वे पुनः युद्ध के लिए उद्यत हो जाते थे। यह अद्‌भुत परिपाटी हिन्दुओं के चरित्र की दिग्दर्शक है, और मुसलमानों के आक्रमण-काल तक उनमें विद्यमान थी। इसी प्रकार, एक अश्वारोही किसी पदाति से युद्ध नहीं करता था; विष में बुझे शस्त्रास्त्रों का उपयोग वर्जित था; अप्रामाणिकता से तथा असुविधाओं से त्रस्त शत्रु पर विजय पाना निषिद्ध था। किसी व्यक्ति का अनुचित लाभ उठाना गर्हित समझा जाता था। प्राचीन भारत में युद्ध सम्बन्धी इस प्रकार के कई नियम थे। इन नियमों का उल्लंघनकर्ता अत्यन्त लांछित और अपमानित किया जाता था। क्षत्रियों को जन्म से ही इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी और जब मध्य एशिया से विदेशियों का आक्रमण हुआ, तो हिन्दुओं ने आक्रमण-करियों के साथ इसी प्रकार बर्ताव किया। उन्होंने उन्हें अनेक

बार पराजित किया, और उपहारादि प्रदान कर उनको अपने देश भेज दिया। युद्ध का यह नियम था कि किसी के देश पर बलपूर्वक अधिकार न किया जाय। परास्त व्यक्तियों का यथायोग्य सम्मान किया जाता था और वे अपनी मातृभूमि में पहुँचा दिये जाते थे। परन्तु मुसलमान विजेताओं ने हिन्दुओं के साथ विपरीत बर्ताव किया और उन्हें अपने हाथ में पाने पर नृशंसतापूर्वक नष्ट कर दिया।

इस युद्ध के प्रसंग में हमें एक बात और स्मरण रखनी चाहिए। महाभारत में कहा गया है कि उन दिनों युद्ध-कला में इतनी प्रगति कर ली गयी थी कि साधारण धनुष-बाण के स्थान पर मन्त्र-चालित देवास्त्रों का प्रयोग होता था, जिनमें मन्त्र-शक्ति और चित्तवृत्ति की एकाग्रता का विशेष महत्व था। एक व्यक्ति शतसहस्र व्यक्तियों से युद्ध कर अपनी इच्छाशक्ति के प्रयोग से उन्हें भस्म कर सकता था। वह एक तीर छोड़कर आकाश में गरजते हुए तीरों की झड़ी लगा सकता था; वह किसी भी वस्तु को भस्म कर सकता था--यह सब देवशक्ति का चमत्कार था। इन दोनों ही महाग्रन्थों--रामायण और महाभारत--की एक बात और विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन देवास्त्रों के साथ साथ तोपों के उपयोग का उल्लेख भी हमें मिलता है। तोप एक अत्यन्त प्राचीन अस्त्र है, जिसका हिन्दू और चीन निवासी सदियों से उपयोग करते रहे हैं। शहरों की चहारदीवारी पर लोहे की पोली नलियों के बने ऐसे सैकड़ों अद्भुत अस्त्र चढ़े रहते थे जिनमें गोला-बारूद भरकर सहस्रों मनुष्य का घात किया जा सकता था। लोगों का विश्वास था कि चीननिवासी जादू द्वारा पोली नलियों में शैतान को कैद कर लेते थे और नली के मुँह पर

जलते अंगारे रखते ही शैतान भयंकर गर्जना करता हुआ आता और सैकड़ों मनुष्यों को नष्ट कर देता था !

इस प्रकार उस युग में लोग मन्त्रचालित शरों से युद्ध करते थे, और एक व्यक्ति लाखों सैनिकों से लड़ सकता था । सेना की व्यूहरचना करने का उनका एक अपना अलग विज्ञान था, और विभिन्न प्रकार से सैन्यविभाग करने की पद्धतियाँ प्रचलित थीं । उनकी सेनाओं में भी पैदल सैनिक रहते थे, जिन्हें 'पदाति' कहा जाता था; अश्वारोही सेना को 'तुरंग' संज्ञा दी गयी थी । इसके अतिरिक्त दो विभाग और थे, जो सम्प्रति केवल नामशेष रह गये हैं । एक गजपंक्ति होती थी, जिसमें आरोहियों सहित तथा लोहवर्म रक्षित सैकड़ों हाथी रहते थे, जो शत्रुसमूह को पैरों तले रौंद डालने का कार्य करते थे । उनकी सेनाओं में रथ भी थे; रथों का प्रयोग सभी देशों में हुआ है--उनके चित्र आपने देखे ही होंगे । इस प्रकार पदाति, तुरंग, हस्ति और रथ--ये उस समय की सेना के चार विभाग थे ।

दोनों ही पक्ष कृष्ण की अनुकूलता प्राप्त करना चाहते थे; किन्तु कृष्ण ने युद्ध में सक्रिय योग देने से इनकार कर दिया । वे अर्जुन के सारथि और पाण्डवों के मित्र तथा सलाहकार बनने के लिए सहमत हो गये और दुर्योधन को उन्होंने अपनी अनेक योद्धाओं से सुसज्जित सेना प्रदान कर दी ।

फिर कुरुक्षेत्र के महान् रणक्षेत्र में उस युद्ध का श्रीगणेश हुआ, जिसमें भीष्म, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन के भ्रातृवृन्द दोनों ही पक्षावलम्बी अनेक कुटुम्बीजनों और सहस्रों प्रचण्ड योद्धाओं के साथ काम आये । अठारह दिन तक युद्ध चलता रहा । अठारह अक्षौहिणी सेना में से केवल गिनती के योद्धा ही बच पाये ।

दुर्योधन की मृत्यु से युद्ध समाप्त हुआ। पाण्डवों की विजय हुई। इसके पश्चात् कौरव-जननी महारानी गान्धारी और विधवा स्त्रियों के करुण विलाप तथा मृतकों के अग्निसंस्कार का वर्णन है।

महाभारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है--गीता की अमर और अद्भुत रचना—भगवद्गीता। गीता भारत का लोक-प्रिय धर्मग्रन्थ है और उसकी शिक्षा सर्वोदात्त है। इसमें कुरुक्षेत्र में युद्धारम्भ के पूर्व, अर्जुन और कृष्ण का संवाद लिपिबद्ध किया गया है। जिन्होंने गीता नहीं पढ़ी हैं, उन्हे मैं उसे पढ़ने की सलाह दूंगा। यदि आप जानते होते कि आपके स्वयं के देश को गीता ने कितना प्रभावित किया है, तो आज तक आप उसे बिना पढ़े रह ही नहीं सकते थे। इमर्सन के उच्च भावस्रोत का उद्गम यही गीता है। वे एक बार कार्लाइल से मिलने गये। कार्लाइल ने उन्हें गीता भेंट की, और कॉंकार्ड* में जिस उदार दार्शनिक तत्त्व के आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, उनकी नींव इसी छोटीसी पुस्तक से पड़ी। और अमेरिका में जितने उदार भावों के आन्दोलन हैं, वे सभी किसी न किसी प्रकार उस कॉंकार्ड आन्दोलन के ऋणी हैं।

गीता के मूलनायक हैं कृष्ण। जिस प्रकार आप नाजरथ के ईसामसीह को ईश्वर का अवतार मान उनकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार हिन्दू भी कई अवतारों की अर्चना करते हैं। वे एक दो में नहीं--कई अवतारों में विश्वास करते हैं, जिनके रूप में भगवान विश्व की आवश्यकतानुसार, धर्म-संस्थापनार्थ और दुष्कृतों के विनाश हेतु पृथ्वी पर समय समय पर प्रकट हुए हैं।

*Concord--युक्त राज्य का एक शहर। यहीं इमर्सन ने अपने जीवन के शेष ४८ वर्ष बिताये थे।

भारत में हर एक पन्थ का एक एक अवतार है, और कृष्ण उनमें से एक हैं। भारतवर्ष में अन्य अवतारों की अपेक्षा कृष्ण के उपासक गणना में अधिक हैं। उनके उपासकों का विश्वास है कि कृष्ण पूर्णावतार हैं, और शंका करने पर वे कहते हैं--बुद्ध और अन्य अवतारों की ओर दृष्टिपात कीजिये। वे केवल संन्यासी थे, गृहस्थों के प्रति उनके हृदय में कोई सहानूभूति नहीं थी, और होती भी कैसे? पर कृष्ण के जीवन को देखिये, पुत्र, पिता, राजा--सभी दृष्टियों से वे महान् हैं और आजीवन वे अपनी इस महान् शिक्षा को आचरण में लाते रहे--

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तःकृत्स्नकर्मकृत्॥
(गीता, ४-१८)

--जो मनुष्य प्रबल कर्मशीलता के बीच रहता हुआ भी नैष्कर्म्य की मधुर शान्ति का उपभोग करता है, और महा निस्तब्धता में भी जो अत्यन्त कर्मशील रह सकता है, उसीने जीवन के रहस्य को ठीक ठीक जाना है।

कृष्ण ने इस स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग भी बताया है--यह है अनासक्ति-योग। सभी प्रकार का कर्म करो, किन्तु उसमें आसक्त मत हो। तुम सर्वदा निर्विकार, शुद्ध-बुद्ध और मुक्त आत्मा हो--अलिप्त और साक्षी हो। हमारे दुःख का मूल, कर्म नहीं, आसक्ति है। उदाहरणार्थ, अर्थ की ही बात लें। सम्पत्तिशाली होना बड़ी अच्छी बात है। कृष्ण कहेंगे--अर्थोपार्जन करो, उसके लिए जी-तोड़ परिश्रम करो, पर उसमें आसक्ति मत रखो। यही भाव सन्तान, पत्नी, पति, कुटुम्बी, ख्याति आदि के सम्बन्ध में रखो। उनका त्याग करने की कोई

आवश्यकता नहीं है ; केवल उनमें आसक्त मत बनो। आसक्ति और अनुराग के भाजन तो केवल भगवान ही बन सकते हैं— संसार की नश्वर और क्षुद्र वस्तुएँ नहीं। अपने आत्मीयों के लिए परिश्रम करो, उन्हें प्यार करो, उनका हितसम्पादन करो, अवसर आने पर अनके लिए अपने जीवन का बलिदान भी कर दो; किन्तु उनमें आसक्त मत हो। कृष्ण का निज का जीवन उनके इस उपदेश का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

यह स्मरण रहे कि कृष्ण का जीवनचरित्र वर्णन करने-वाला ग्रन्थ कई सहस्र वर्ष पुराना है, और कृष्ण एवं नाजरथ-निवासी ईसा के जीवन की कुछ घटनाओं में अत्यन्त साम्य है। कृष्ण का राजकुल में जन्म हुआ था। कंस नाम का एक अत्याचारी राजा था और यह भविष्यवाणी की गयी थी कि उसके स्थान पर अमुक वंश में जन्म-प्राप्त व्यक्ति राजा बनेगा। इसलिए कंस ने तमाम बालकों के वध की आज्ञा दे दी। कृष्ण के माता-पिता को कंस ने कारागृह में बन्द कर दिया था और वहीं उनका जन्म हुआ। उनके जन्म-ग्रहण के समय समस्त कारागार ज्योति से उद्भासित हो उठा। नवजात बालक बोला, "मैं समग्र जीव-जगत् की ज्योति हूँ और विश्वकल्याण के लिए अवतीर्ण हुआ हूँ।" आप देखेंगे कि कृष्ण को रूपक-स्वरूप गोपालनशील बताया गया है—और उनका एक नाम गोपाल है। सन्तों ने आकर कहा, "साक्षात् भगवान ने नररूप धारण किया है," और वे उनका स्तुतिगान करने लगे। श्रीकृष्ण की जीवनलीला के अन्य अंशों में ईसा के जीवन से साम्य नहीं है।

कृष्ण ने नृशंस और क्रूर कंस को पराभूत किया, किन्तु सिंहासनासीन हो स्वयं राज्य करने का विचार तक उनके मन में

नहीं आया। उनका इससे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं। उन्हें तो बस अपना कर्तव्य पूर्ण करना था।

युद्ध की समाप्ति के पश्चात् प्रचण्ड योद्धा भीष्म पितामह जिन्होंने अठारह दिन में से दस दिन तक युद्ध किया था, अद्यापि शरशय्या पर लेटे लेटे युधिष्ठिर को राजा के कर्तव्य, वर्णाश्रम धर्म, विवाह, दान आदि विषयों पर प्राचीन ऋषियों की शिक्षा पर आधारित उपदेश प्रदान कर रहे थे। उन्होंने युधिष्ठिर को सांख्य और योग दर्शनों की शिक्षा दी; और अनेक उपाख्यान, ऋषि-मुनियों, राजाओं तथा देवताओं के जीवन के प्रसंग बताये। इन शिक्षाओं से पूर्ण ग्रन्थ का प्रायः एक चतुर्थांश भाग भरा है, और ये आर्यों की नीति, विधि और कर्तव्य शास्त्र का आगार हैं।

इसी बीच युधिष्ठिर का राज्यारोहण हो गया। व्यास के आदेशानुसार उन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी कर लिया, किन्तु भीषण रक्तपात और गुरुजनों एवं आत्मीयों के नाश का महान् दुःख उन्हें मन ही मन रुला रहा था। युद्ध के पश्चात् चौदह वर्ष तक महाराज धृतराष्ट्र शान्ति और सम्मान-पूर्वक जीवित रहे। युधिष्ठिरादि उनकी पिता के समान आज्ञा मानते थे। अब वे वृद्ध राजा, युधिष्ठिर को सिंहासन पर छोड़, अपनी पतिपरायणा रानी और पाण्डव-जननी कुन्ती को साथ ले, अपने शेष दिन भगवदाराधना में व्यतीत करने वन में चले गये।

धीरे धीरे युधिष्ठिर को राज्य मिले छत्तीस वर्ष बीत गये। तब उन्हें कृष्ण के देह-त्याग का हृदयविदारक समाचार ज्ञात हुआ। उनके मित्र और सलाहकार कृष्ण--तत्त्ववेता और योगिराज कृष्ण इस संसार में न रहे। अर्जुन शीघ्रता से द्वारका पहुँचे, पर यही दुःखद वार्ता लेकर लौटना पड़ा कि कृष्ण और

सभी यादव कालकवलित हो गये हैं। तब दुःखाभिभूत हो महाराज युधिष्ठिर और उनके बन्धु सोचने लगे कि अब उनका भी इस विश्व से प्रस्थान करने का समय समीप आ पहुँचा है। राज्यभार अर्जुन के पौत्र परीक्षित को सौंप, महाप्रस्थान करने वे हिमालय पर चले गये। यह संन्यास का एक विशेष प्रकार है। वृद्ध राजाओं में संन्यास ग्रहण करने की प्रथा थी। प्राचीन भारत में वृद्धावस्था प्राप्त करने पर व्यक्ति सर्वस्व त्याग कर संन्यास ले लेते थे। जीवन के प्रति ममता का अन्त हो जाने पर, वे निर्जल-अनशन व्रत धारण कर हिमालय की ओर प्रस्थान कर देते थे और देहपात पर्यन्त ईश्वरचिन्तन करते करते आगे बढ़ते जाते थे।

अब देवता और ऋषिगण आकर युधिष्ठिर को सशरीर स्वर्ग जाने के लिए कहने लगे। इसके लिए हिमालय के सर्वोच्च शिखर का पार करना आवश्यक हो जाता है। हिमालय के उस पार सुमेरु पर्वत है और उसी के शिखर पर स्वर्ग है। कोई भी वहाँ सदेह प्रवेश नहीं कर सका। वहीं देवताओं के निवास हैं। देवताओं ने युधिष्ठिर को वहीं आमन्त्रित किया।

अन्तः पाँचों भाइयों और उनकी पत्नी द्रौपदी ने वल्कल परिधान किये और यात्रा आरम्भ कर दी। मार्ग में एक कुत्ता उनका अनुगमन करने लगा। वे आगे ही बढ़ते गये, उनके क्लान्त और व्यथित पद उत्तर में उस ओर बढ़ रहे थे जहाँ गिरिराज हिमालय अपने गर्वोन्नत मस्तक पर शुभ्र हिमाच्छादित शिखरों का मुकुट धारण किये खड़ा है। अब उन्हें सुमेरु गिरि के भी दर्शन होने लगे।

निस्तब्धता पूर्वक वे श्वेत हिम-राशि पर चलते जा रहे थे कि

महारानी द्रौपदी अवसन्नदेह हो भूमि पर गिर पड़ीं--और फिर नहीं उठ सकीं। सब के अग्रेसर युधिष्ठर से भीम ने कहा, "महाराज देखिये, महारानी गिर पड़ी हैं।" राजा की आँखों से आँसू झर रहे थे, पर उन्होंने पीछे मुड़कर नही देखा। वे केवल इतना ही बोले, "हम अपने आराध्य कृष्ण से मिलने आतुर हो चले जा रहे हैं--पीछे देखने के लिए समय नहीं है। आगे बढ़ो।" कुछ देर बाद भीम फिर बोले, "देखिये, सहदेव भी भूमिपतित हो गया है।" राजा के नयनों से पूर्ववत् आँसुओं की झड़ी लगी थी, पर वे रुके नहीं। उनके ओठों पर वही 'आगे बढ़ो' का आदेश था।

अब क्रमशः नकुल, अर्जुन और भीम का भी उसी शीत और हिम में देहपात हो गया, पर युधिष्ठिर एकाकी होने पर भी, अविचलित भाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे। पीछे घूमने पर उन्हें दिखा कि वफादार कुत्ता अब भी उनके पीछे पीछे आ रहा है। खाई-पहाड़ों को पार करते हुए वे उस अनन्त हिमराशि पर चढ़ते चढ़ते अन्त में सुमेरु पहाड़ तक पहुँच गये और उन्हें स्वर्ग के संगीत कर्णगोचर होने लगे। धर्मनिष्ठ राजा पर देवताओं ने देवपुष्पों की वृष्टि की। तब देवताओं का रथ उतरा और सुरपति इन्द्र ने महाराज से प्रार्थना की, "नरश्रेष्ठ, इस रथ में पधारिये, आपको सदेह स्वर्गगमन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।" किन्तु नहीं, युधिष्ठिर अपने स्नेही-बन्धुओं और महारानी द्रौपदी के बिना यह स्वीकार नहीं कर सके। तब इन्द्र ने उन्हें बताया कि उनके भाई पहले ही स्वर्ग में पहुँच गये हैं।

अब युधिष्ठिर चारों ओर दृष्टिपात कर अपने कुत्ते से बोले, "रथ में चढ़ जाओ, वत्स।" इन्द्र यह सुनकर चकित से रह

गये । वे बोले, "क्या यह अधम कुत्ता रथारूढ़ होगा ? महाराज आप विचारशक्ति तो नहीं खो बैठे हैं ? आपका क्या आशय है ? इस कुत्ते को आपको त्यागना होगा । यह कैसे स्वर्ग जा सकता है ? महाराज, आप मनुष्यजाति में सर्वश्रेष्ठ धार्मिक हैं । केवल आप ही सशरीर स्वर्गगमन कर सकते हैं ।" युधिष्ठिर शान्त चित्त से बोले, "इसने हिम और शीत में मेरा साथ दिया है । मेरे चारों बन्धु एक एक कर देहत्याग कर गये, राजमहिषी द्रौपदी भी इस लोक से चली गयी, पर इस स्वामिभक्त कुत्ते ने मेरा साथ कभी नहीं छोड़ा । मैं भला कैसे इसका त्याग कर सकता हूँ ?" तब इन्द्र बोले, "कुत्तों को साथ लानेवाले मानवों के लिए स्वर्ग में कोई स्थान नहीं इसलिए इस कुत्ते का परित्याग आपको करना ही होगा—इसमें कोई अधर्म नहीं होगा ।" राजा युधिष्ठिर उसी प्रकार दृढ़ हो बोले, "यदि यह कुत्ता मेरे साथ स्वर्गारोहण नहीं कर सकता, तो मुझे भी स्वर्ग जाने की कोई लालसा नहीं है । इस देह में प्राण रहते, मैं कभी भी ऐसे व्यक्ति का परित्याग नहीं करूँगा, जिसने मेरा आश्रय ग्रहण किया है । स्वर्ग के आनन्द का लाभ, या किसी देवता की आज्ञा मुझे धर्म के मार्ग से पराङमुख नहीं कर सकती ।" यह सुन सुरराज बोले, "केवल एक शर्त पर कुत्ता स्वर्ग में जा सकता है । आप नरश्रेष्ठ हैं, मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ धर्मपरायण हैं और यह एक अधम योनि का जीवमांस-भक्षी हिंस्र पशु है । यह पापात्मा है, इसका जीवन हिंसापूर्ण है । आप पुण्यात्मा हैं—आप अपने पुण्यार्जित स्वर्ग का उससे विनिमय कर लें ।" राजा बोले, "सुरराज, मुझे स्वीकार है । कुत्ते को रथारूढ़ कर स्वर्ग में ले जाया जाय ।"

युधिष्ठिर के यह वाक्य बोलते ही दृश्य परिवर्तित हो गया। उनके ये उदात्त एवं उदार भाव सुनकर वह कुत्ता अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो गया। युधिष्ठिर ने देखा, उनके समक्ष साक्षात् धर्मराज, न्याय और मृत्यु के देवता—यम खड़े हैं। यम राजा से बोले, "राजन्, आप-सा निःस्वार्थ व्यक्ति अब तक इस भूमण्डल में नहीं जन्मा। आप एक क्षुद्र कुत्ते से अपने पुण्यार्जित स्वर्गभोग का विनिमय करने को तैयार हो गये; उसके लिए अपने समस्त पुण्य का त्याग कर नरक में जाना भी स्वीकार कर लिया। महाराज, आपके जन्मग्रहण से यह वसुधा धन्य हो गयी है। हे राजन्, आपका हृदय प्राणिमात्र के लिए स्नेह और करुणा से प्लावित हो रहा है, इसलिए आपने अपने पुण्यप्रभाव से इन सब अनन्त आनन्दमय लोकों का उपार्जन कर लिया है और स्वर्ग ही आपके लिए एकमेव उपयुक्त धाम है।"

तब महाराज युधिष्ठिर इन्द्र, यम और अन्य देवताओं के साथ रथारूढ़ हो स्वर्गारोहण करते हैं। वहाँ उनकी नरकदर्शनादि अन्य कतिपय परीक्षाएँ होती हैं। फिर वे सुरगंगा में स्नान कर, निर्जर देह धारण करते हैं। उनके अमरत्वप्राप्त बन्धुओं से उनका स्नेह-मिलन होता है और वे सब आनन्द की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार महाभारत के उच्चभावात्मक महाकाव्य में 'धर्म की जय और अधर्म की पराजय' दिखाने के पश्चात् उसकी परिसमाप्ति की गयी है।

उपसंहार में, मेरे लिए महाप्रतिभा और मनीषा-सम्पन्न महर्षि व्यास द्वारा वर्णित उन असंख्य महामहिमामय उन्नत और उदात्त महापुरुषों के जीवन का उल्लेख करना भी नितान्त

असम्भव है। धर्मभीरु किन्तु वृद्ध, अन्ध और निर्बल धृतराष्ट्र के हृदय में चलनेवाला पुत्रप्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व; पितामह भीष्म का उदात्त और उन्नत चरित्र; महाराज युधिष्ठिर का उदार तथा धार्मिक स्वभाव; और उनके चारों बन्धुओं का उन्नत चरित्र, स्वामी-निष्ठा और अप्रतिम वीरता; मानवीय ज्ञान की चरम सीमा-प्राप्त श्रीकृष्ण का अद्वितीय व्यक्तित्व; और महासती तपस्विनी रानी गान्धारी, पुत्रवत्सला कुन्ती, पतिपरायणा और सर्वसहिष्णु द्रौपदी आदि रमणियों के चरित्र––जो पुरुषों से किसी भाँति कम नहीं हैं––तथा इस महाग्रन्थ और रामायण के अन्य अनगिनती चरित्र-नायक विगत सहस्रों वर्ष से समस्त हिन्दूजाति की यत्न-संचित जातीय सम्पत्ति रहे हैं और उसके विचारों तथा कर्तव्याकर्तव्य तथा नीति सम्बन्धी सिद्धान्तों की आधारशिला हैं। यथार्थ में, रामायण और महाभारत प्राचीन आर्यजीवन और बुद्धिमत्ता के दो ऐसे ज्ञानकोष हैं, जिनमें एक ऐसी उन्नत सभ्यता का चित्र खींचा गया है, जो मानव जाति को अब भी प्राप्त करनी है।

जड़-भरत की कथा

(कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण)

प्राचीन काल में भरत नाम के एक महान् प्रतापी सम्राट् भारतवर्ष में राज्य करते थे। विदेशी लोग जिस देश को 'इण्डिया' कहते हैं, उसे उस देश की सन्तान भारतवर्ष कहती आयी है। हर एक हिन्दू के लिए स्मृति का आदेश है कि वृद्धावस्था में पदार्पण करते ही वह सर्वस्व त्याग कर, इस संसार का समस्त भार--ऐश्वर्य धन-सम्पत्ति--अपने पुत्र के लिए छोड़ वनगमन करे और वहाँ अपने यथार्थ स्वरूप आत्मा का चिन्तन करते करते इस संसार के मोहों से मुक्ति प्राप्त करे। राजा और रंक, कृषक और किंकर, नर और नारी--सभी इसी प्रकार कर्तव्यबद्ध हैं; क्योंकि गृहस्थ के सारे कार्य--पुत्र, बन्धु, पति, पिता, स्त्री, पुत्री, माता और भगिनी सब के कर्तव्य-कर्म--केवल उसी एक अवस्था की ओर ले जानेवाले सोपान मात्र हैं, जिसमें मानव के जड़-बन्धन चिरकाल के लिए टूट जाते हैं और वह मुक्त हो जाता है।

सम्राट् भरत भी इसी प्रकार अपना राज्य अपने पुत्र के सुपुर्द कर वनवास करने चले गये। जो एक दिन कोटि कोटि प्रजा पर शासन करते थे, दुग्ध-धवल संगमर्मर के सुवर्णमण्डित राजप्रासादों में वास करते थे, जो रत्नजड़ित चषकों से मदिरा सेवन करते थे, वे ही आज वन में जा, अपने ही हाथों से हिमगिरि की तलहटी के निबिड़ कान्तार में किसी स्रोतस्विनी के तीर पर घास-फूस की एक छोटीसी कुटी बनाकर निवास करने लगे। अपने परिश्रम से प्राप्त किये हुए कन्दमूलों का आहार करते हुए महाराज भरत

अपना जीवन उस अन्तर्यामी परमात्मा के ध्यान और चिन्तन में बिताने लगे, जो हर एक मनुष्य में साक्षी रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार दिन, मास और वर्ष बीतने लगे।

एक दिन, जहाँ राजर्षि ध्यानावस्था में बैठे थे, वहीं एक हरिणी पानी पीने आयी। इसी क्षण कुछ दूरी पर एक सिंह ने गर्जना की। हरिणी इतनी भयभीत हो गयी कि तृष्णा शान्त किये बिना ही, उसन नदी पार करने के लिए छलाँग मार दी। हरिणी सगर्भ थी, और इस श्रम और भय के कारण उसने तत्काल एक शावक प्रसव कर प्राण छोड़ दिये। मृग-शावक नदी में गिर पड़ा और तीव्र जलधारा में बहने लगा। उसी समय राजर्षि भरत की दृष्टि उस पर पड़ी। वे ध्यानावस्था से उठकर उसकी रक्षा करने नदी में कूद पड़े। मृग-शावक को कुटी में ले जाकर उन्होंने अग्नि प्रदीप्त की, और अपनी स्नेहपूर्ण हथेलियों से सहला-सहलाकर उसकी मूर्च्छा दूर की। करुणाविह्वल हो राजर्षि ने शावक की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया और स्वयं ही हरित तृण संग्रह कर उसका लालन-पालन करने लगे। वनवासी राजा का पितृवत् स्नेह पा मृग-शावक दिनदिन बड़ा हो एक सुन्दर हरिण बन गया। और राजर्षि, जिन्होंने जीवन के सम्पूर्ण मोह, अधिकार, सम्पदा और कौटुम्बिक स्नेह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर ली थी, सरिता-जल से उद्धार किये हुए इस मृग शावक के मोहपाश में बद्ध हो गये। ज्यों ज्यों वे उससे अधिकाधिक स्नेह करने लगे, त्यों-त्यों उनका ईश्वर चिन्तन और उपासना कम होती गयी। जब हरिण वन में चरने चला जाता और उसके लौटने में कुछ विलम्ब हो जाता, तो राजर्षि चिन्तातुर और दुःखी होने लगते। वे सोचते--कहीं मेरे प्यारे मृग-शावक

पर किसी सिंह ने आक्रमण तो नहीं कर दिया, उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया, उसे आज क्यों इतनी देर हो गयी ?

इस प्रकार कुछ वर्ष बीत गये, और महर्षि का मृत्युकाल समीप आ गया। मरणासन्न होने पर भी, उनका मन आत्मचिन्तन में मग्न न था; वे हरिण के विषय में सोच रहे थे और अपने प्रिय शावक की शोकविह्वल आँखों पर दृष्टि स्थिर रखते हुए ही वे परलोकवासी हो गये। फलस्वरूप उन्हें मृगरूप धारण कर पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ा। किन्तु कर्म नष्ट नहीं होता है, पूर्व जन्म के सुकृतों का फल उन्हें प्राप्त हुआ। यह हरिण जन्मतः ही जातिस्मर था; और यद्यपि वह वाचाहीन और चतुष्पाद था, उसे अपने पूर्वजन्म की सब घटनाएँ स्मरण थीं। वह अपने सहचरों का साथ छोड़, स्वभावतः ही तपोवनों के समीप चरने जाता, जहाँ यज्ञ-होम और उपनिषद्-पाठ होते रहते थे।

आयु पूर्ण होने पर मृगरूपी भरत ने पंचत्व प्राप्त किया और पुनः एक धनसम्पन्न ब्राह्मण के कनिष्ठ पुत्र के रूप में जन्म लिया। इस जीवन में भी उन्हें अपने पूर्वजन्म का विस्मरण नहीं हुआ था; और उन्होंने अपने बाल्यकाल में ही जीवन के पाप-पुण्य के पाशों से दूर रहने का निश्चय कर लिया। वयः-प्राप्त होने पर बालक स्वस्थ और बलवान हो गया, पर वह एक शब्द भी नहीं बोलता था और संसार के मोह-मायापूर्ण व्यापारों में न फँसने के लिए वह जड़-मूढ़ और पागल-सा रहने लगा। उसके हृदय में सदा अनन्त-ब्रह्म चिन्तन चला करता था और अपने प्रारब्ध-कर्म क्षय करने के लिए ही वह जीवन बिता रहा था। कालक्रम से उसके पिता की मृत्यु हो गयी और पुत्रों ने परस्पर में सम्पत्ति का बँटवारा कर लिया। कनिष्ठ

बन्धु को मूक और अकर्मण्य समझकर उसका भी हिस्सा वे निगल गये। वे उसे केवल जीवन-निर्वाहार्थ अन्न प्रदान कर देते थे। बस, केवल यहीं तक उनका उस पर अनुग्रह था। उसकी भाभियाँ भी सदैव उससे अत्यन्त कर्कश व्यवहार करती थीं। वे उससे सारे कठिन काम करवातीं और यदि वह उनकी इच्छानुसार काम न करता, तो उससे अत्यन्त कठोर व्यवहार करतीं। किन्तु वह न तो कभी चिढ़ा और न डरा ही; एक शब्द भी न बोलते हुए धैर्यपूर्वक सब सहता गया। जब वे उसे बहुत तंग करतीं, तो वह घर से दूर जा एक वृक्ष के नीचे भाभियों का क्रोध शान्त होने तक बैठा रहता और फिर चुपचाप घर लौट आता।

एक दिन उसकी भाभियों ने उसके प्रति अत्यन्त नृशंस व्यवहार किया। भरत विना कुछ बोले घर से निकल गये और किसी वृक्ष की छाया तले विश्राम करने लगे। दैवयोग से उस देश का राजा उसी मार्ग से पालकी पर बैठा जा रहा था। पालकी ढोनेवाले कहारों में से एक अचानक ही अस्वस्थ हो गया, इसलिए उसके भृत्यगण रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए किसी मनुष्य की खोज में इधर इधर देख रहे थे। वृक्ष के नीचे बैठे भरत को देख वे वहाँ आये और उन्हें हट्टा-कट्टा देखकर बोले, "राजा का एक शिविकावाहक अस्वस्थ हो गया है। क्या तुम उसके स्थान पर काम करोगे?" भरत कुछ न बोले। उन्हें इतना स्वस्थ देखकर, राजा के भृत्यों ने उन्हें बलपूर्वक पकड़ लिया और पालकी ढोने को बाध्य किया। भरत भी निःशब्द शिविका वहन करने लगे। किन्तु शीघ्र ही राजा ने देखा कि पालकी की गति और दिशा सम नहीं है। पालकी में से झाँककर राजा नये वाहक को सम्बोधन कर बोला, "अरे मूर्ख! जा आराम कर। यदि तेरे कन्धे

दुख रहे हैं, तो थोड़ासा आराम कर।" तब भरत ने पालकी नीचे रख जीवन में प्रथम बार अपना मौन भंग किया और बोले, "हे राजन्, आप किसे मूर्ख कह रहे हैं? किसे आप शिविका नीचे रखने का आदेश दे रहे हैं? आप किसे क्लान्त कह रहे हैं? किसे 'तू' कह सम्बोधन कर रहे हैं? राजन्, यदि 'तू' से आपका अर्थ यह मांस-पिण्ड है, तो यह उसी पदार्थ से बना है, जिससे आपकी देह; यह अचेतन और जड़ है--इसे थकावट और पीड़ा का कैसे ज्ञान होगा? यदि आपका अर्थ मन है, तो यह आपके मन-जैसा ही है; यह सर्वव्यापी है। किन्तु यदि 'तू' शब्द से आपका लक्ष्य इससे भी परे किसी वस्तु से है, तो वह केवल आत्मतत्त्व ही हो सकता है, जो मेरा यथार्थ स्वरूप है, जिसकी सत्ता आपमें भी है और जो विश्व में 'एकमेवाद्वितीय' है। राजन्, क्या आप सोचते हैं कि आत्मा कभी क्लान्त भी होती है? क्या आप कहना चाहते हैं कि आत्मा कभी आहत भी होती है? राजन्, मैं--यह शरीर--धरती पर रेंगनेवाले इन कीड़ों को पैरों तले कुचलना नहीं चाहता था, और इसलिए उनकी रक्षा के यत्न में पालकी की गति विषम हो गयी थी। किन्तु आत्मा कभी क्लान्त और व्यथित नहीं होती; उसे कभी दुर्बलता प्रतीत नहीं होती और न उसने शिविका-भार ही वहन किया, क्योंकि आत्मा तो सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है।" इस प्रकार भरत ने आत्मा का स्वरूप, पराविद्या आदि विषयों पर ओजस्विनी वाणी में बड़ी देर तक विवेचन किया। अपने ज्ञान और विद्वत्ता का राजा को अत्यन्त अभिमान था; पर भरत के ये शब्द सुन उसका गर्व चूर्ण हो गया। पालकी से उतरकर उसने भरत के चरणों में प्रणाम किया और बोला, "महाभाग मुझे क्षमा करें; आपको शिविका-

वहन में नियुक्त करते समय मैं नहीं जानता था कि आप एक सिद्धपुरुष हैं ।" भरत राजा को आशीर्वाद दे बिदा हो गये और उन्होंने पुनः पूर्ववत् जीवनयात्रा शुरू कर दी । देह-त्याग करने पर भरत आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो गये ।

प्रह्लाद-चरित

(कैलिफोर्निया में दिया हुआ भाषण)

हिरण्यकशिपु दैत्यों का राजा था। देव और दैत्य यद्यपि एक ही पिता की सन्तान थे, तथापि वे सदैव परस्पर युद्ध-संलग्न रहते थे। दैत्यों को मानवजन-प्रदत्त यज्ञ-भाग अथवा जगत् के शासन का कोई अधिकार न था। किन्तु कभी-कभी वे अत्यन्त प्रबल हो जाते और देवताओं को स्वर्ग से बाहर निकाल, उनका सिंहासन छीन, स्वयं राज करने लगते थे। तब देवतागण इस ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापी प्रभु विष्णु की प्रार्थना करते, और उनकी सहायता से उनकी विपदाएँ दूर हो जाती थीं। दैत्य स्वर्ग से निकाल दिये जाते और पुनः देवगण राज करनें लगते।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु इसी भाँति एक बार अपने ज्ञाति-बन्धु देवगण पर विजय प्राप्त कर, स्वर्ग के सिंहासन पर आरूढ़ हो त्रिभुवन अर्थात् मानव तथा अन्य जीव-जन्तु द्वारा अध्युषित मध्यलोक, सुरधाम स्वर्गलोक और दैत्यभूमि पाताल पर शासन करने लगा। अब, उसने अपने को त्रिभुवन का स्वामी घोषित कर दिया और यह मुनादी पिटवा दी कि उसके सिवाय दुनिया में कोई ईश्वर नहीं है; इसलिए कहीं भी कोई विष्णु की पूजा न करे और त्रिभुवन में एकमात्र उसी की पूजा की जाय।

हिरण्यकशिपु का प्रह्लाद नामक एक पुत्र था। अपनी शैशवावस्था से ही उसकी भगवान विष्णु के चरणाम्बुजों में परम अनुरक्ति थी। बाल्यकाल में ही उसकी इस विशुद्ध भक्ति के लक्षण देख, दैत्यराज हिरण्यकशिपु को भय हुआ कि जिस पाप को वह संसार से ही जड़-मूल सहित नष्ट कर देना चाहता है,

वही उसके अपने कुटुम्ब में जड़ जमाने का यत्न कर रहा है। अतः उसने अपने पुत्र को शण्ड और अमर्क नामक दो अत्यन्त कठोर और छात्रशासन-दक्ष आचार्यों के सुपुर्द कर दिया, और उन्हें आज्ञा दी कि भविष्य में प्रह्लाद को विष्णु का नाम तक कर्णगोचर न हो। आचार्य-द्वय कुमार को अपने साथ घर ले आये और उसे उसके समवयस्क अन्यान्य छात्रों के साथ रखकर शिक्षा देने लगे। किन्तु शिशु प्रह्लाद शिक्षा में मनोयोग न दे, अपना सारा समय अन्य दैत्य-बालकों को भगवान विष्णु की अर्चना-विधि सिखाने में ही बिताने लगा। जब आचार्यों को यह ज्ञात हुआ, तो वे अतिशय भयभीत हुए। उन्हें प्रतापी दैत्यराज के कोप का अत्यन्त भय था। इसलिए बालक प्रह्लाद को इन कार्यों से परावृत्त करने के लिए वे यथाशक्ति चेष्टा करने लगे। किन्तु प्रह्लाद के लिए तो विष्णुनाम-ग्रहण श्वास-प्रश्वास की भाँति स्वाभाविक था; स्वयं विष्णु की उपासना करना और इतर जनों को उसकी प्रणाली सिखाना—यही उसका जीवन था। अतः वह अपने मार्ग से विचलित न हो सका। निदान अपने दोष-क्षालनार्थ आचार्यों ने स्वयं हिरण्यकशिपु से यह भयंकर तथ्य निवेदन कर दिया कि प्रह्लाद न केवल स्वयं ही विष्णु की उपासना करता है, वरन् अन्य बालकों को भी उपासनाप्रणाली सिखा-सिखाकर कुपथगामी बना रहा है।

यह समाचार सुन दैत्यराज क्रोध से आगबबूला हो गया। उसने बालक प्रह्लाद को अपने सामने बुलवाया। प्रथम उसने कोमल वाणी में उसे विष्णु की पूजा से पराङ्मुख कर यह समझाने का यत्न किया कि ब्रह्माण्ड में दैत्यराज हिरण्यकशिपु के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है, इसलिए केवल उसी की पूजा की

जाय । किन्तु बालक प्रह्लाद पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा । वह पुनः-पुनः यही कहता था कि सर्वव्यापी, त्रिभुवनेश्वर भगवान विष्णु ही एकमात्र उपास्य हैं, और दैत्यराज का राजस्व भी भगवान विष्णु के इच्छाधीन है। अब दैत्यराज के क्रोध की सीमा न रही और उसनें तत्काल प्रह्लाद के वध की आज्ञा दे दी । दैत्यों ने तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से उसकी कोमल देह पर आघात किये, पर उसका चित्त विष्णु के ध्यान में इतना मग्न था कि उसे तनिक भी पीड़ा नहीं हुई ।

हिरण्यकशिपु को जब ज्ञात हुआ कि शस्त्र-प्रहार से प्रह्लाद का बाल भी बाँका न हुआ, तो वह अत्यन्त भयाकुल हो गया । किन्तु दानवोचित असत्-प्रवृत्ति के वशीभूत हो उसने बालक प्रह्लाद का वध करने के कई राक्षसी उपायों का अवलम्बन करना शुरू कर दिया । उसने उसे हाथी के पैरों तले कुचल देने का आदेश दिया । किन्तु जिस प्रकार क्रुद्ध हाथी लोह-गोलक को अपनी पूरी सामर्थ्य से भी नहीं पीस सकता, उसी भाँति प्रह्लाद का भी कुछ न बिगाड़ सका । जब इस उपाय से काम न चला, तो दैत्यराज ने प्रह्लाद को पहाड़ की चोटी से फेंकने की आज्ञा दी । इस आदेश का भी पालन हुआ, प्रह्लाद के हृदय-कमल में भगवान विष्णु निवास करते थे, इसलिए वह कोमल तृणांकुरों पर धीरे से गिरनेवाले हलके फूल की भाँति पृथ्वी पर आ पड़ा । प्रह्लाद का विनाश करने के लिए हिरण्यकशिपु ने विष, अग्नि, अनशन, कूप-पातन, तन्त्र-मन्त्र आदि अनेकविध उपायों का प्रयोग किया, किन्तु सब व्यर्थ हुए । 'जाको राखे साइयाँ, मार सके नहिं कोय ।' प्रह्लाद के हृदय में भगवान विष्णु की छबि स्थित थी, उसका कौन क्या बिगाड़ सकता था ?

अन्त में हिरण्यकशिपु ने आज्ञा दी कि पाताल से विशालकाय सर्पों का आह्वान किया जाय, और प्रह्लाद को नाग-पाश में बद्ध कर समुद्र में फेंक दिया जाय, फिर उस पर बड़े बड़े पहाड़ स्तूपाकार चुन दिये जायँ, जिससे तत्क्षण नहीं तो निदान काल-क्रम से उसका अन्त हो जाय। इस प्रकार नृशंस व्यवहार किये जानें पर भी, बालक प्रह्लाद अपनें परमाराध्य विष्णु की "हे त्रिभुवनेश्वर, हे जगत्पते, हे अनन्त-सौन्दर्यनिधे," कह-कहकर प्रार्थना करता रहा। इस प्रकार संकट काल में विष्णु का ध्यान और चिन्तन करतें-करते बालक को प्रतीत होनें लगा कि स्वयं विष्णु भगवान उसके निकट विद्यमान हैं।—निकट ही नहीं, वरन् वे उसकी आत्मा में अवस्थित हैं। धीरे धीरे उसे प्रतीत होने लगा कि वह स्वयं विष्णु है और अग-जग में सर्वत्र वही व्याप्त हो रहा है।

ज्योंही प्रह्लाद को यह अद्वैतानुभूति होनें लगी, नागपाश स्वयमेव खुलनें लगे, पहाड़ चूर-चूर होने लगे, समुद्र में ज्वारभाटा आने लगा और लहरों ने उसे अपने सिर पर धारण कर किनारे तक पहुँचा दिया। प्रह्लाद उस समय यह सब भूल गया कि वह एक दैत्य है और उसका पार्थिव शरीर है। उसे प्रतीति हो रही थी—वह ब्रह्माण्डस्वरूप है और विश्व की समस्त शक्तियों का आदिस्रोत है; इस जगत् में—प्रकृति में—ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उसे क्षति पहुँचा सके, वह स्वयं प्रकृति का शास्तास्वरूप है। इस प्रकार समाधिजनित अविच्छिन्न परमानन्द में कुछ काल व्यतीत होने पर शनैः-शनैः उसे देहभान हुआ और स्मरण होने लगा कि वह दैत्य-कुलोत्पन्न प्रह्लाद है। देह-भान होते ही उसे पुनः यह ज्ञान होने लगा कि उसके अन्दर और

बाहर--चारों ओर ईश्वर की सत्ता है, और उसे हर वस्तु में विष्णुरूप के दर्शन होने लगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने जब देखा कि उसके अनन्य शत्रु विष्णु के अनन्य भक्त—उसके पुत्र प्रह्लाद के निधनार्थ प्रयुक्त सभी उपाय विफल हो गये हैं, तो वह भीतिग्रस्त और किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। उसने पुनः प्रह्लाद को अपने समीप बुलवाया और मधुर वचनों से अपनी सलाह पर चलने का उपदेश देने लगा। किन्तु प्रह्लाद पूर्ववत् ही उत्तर देता रहा। हिरण्यकशिपु ने सोचा कि शिक्षा और वयवृद्धि के साथ साथ प्रह्लाद के ये बालोचित विचार बदल जायँगे। इसलिए उसने पुनः उसे शण्ड और अमर्क के सुपुर्द कर उसे राजधर्म की शिक्षा प्रदान करने का आदेश दिया। किन्तु प्रह्लाद की उसमें कोई रुचि न थी, और अवकाश पाते ही वह अपने सहपाठियों को विष्णु की उपासना का उपदेश देने लगता।

राजा के कानों में जब यह समाचार पहुँचा, तो वह क्रोध में आपे से बाहर हो गया। उसने प्रह्लाद को बुलाकर प्राणान्त की धमकियाँ दीं और उसके उपास्य विष्णु के प्रति हीनतम अप-शब्द प्रयुक्त किये। किन्तु इसके उपरान्त भी प्रह्लाद बार बार बलपूर्वक यही कहता गया कि भगवान विष्णु चराचर के स्वामी हैं और अनन्त, अनादि, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और एकमात्र आराध्य हैं। हिरण्यकशिपु सक्रोध गरजकर बोला, "अरे पापिष्ठ, यदि तेरा विष्णु सर्वव्यापी है तो क्या वह उस स्तम्भ में नहीं है?" प्रह्लाद बोला, "क्यों नहीं! वे उस स्तम्भ में भी विद्यमान हैं।" लड़के की धृष्टता से क्रुद्ध हो दैत्यराज बोला, "रे दुष्ट, मैं अभी इस खड्ग से तुझे यमसदन भेजे

देता हूँ, देखूँ, कैसे तेरा विष्णु तेरी रक्षा करता है।" ऐसा कह हिरण्यकशिपु अपनी तलवार ले उसकी ओर झपटा और उसने उस स्तम्भ पर एक जोर का वार किया। उसी क्षण उस स्तम्भ से वज्र-निर्घोष हुआ और भगवान विष्णु नृसिंह-रूप धारण कर प्रकट हुए। सहसा यह भीषण रूप देखकर दैत्यगण भयभीत हो प्राणरक्षणार्थ इतस्ततः दौड़ने लगे। हिरण्यकशिपु बलपूर्वक प्राण-पण से बड़ी देर तक वहाँ युद्ध करता रहा, किन्तु अन्त में भगवान नृसिंह के हाथों पराभूत और निहत हो गया। तब देवतागण स्वर्ग से आगमन कर विष्णु का स्तुति-गान करने लगे। प्रह्लाद भी भक्ति-विह्वल हो प्रभु के चरणों में प्रणिपात कर, गद्गद कण्ठ से विष्णु की प्रार्थना करने लगे। तब भगवान प्रसन्न हो प्रह्लाद से बोले, "वत्स, प्रह्लाद! तुम निर्भय हो इच्छानुसार वर माँगो, तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो।" प्रह्लाद गद्गद स्वर में बोले, "प्रभो, आपके दर्शन पाकर अब और कौनसी इच्छा अतृप्त रह गयी है? आप मुझे किसी प्रकार के ऐहिक या पारत्रिक ऐश्वर्य का प्रलोभन न दिखाइये।" पुनः भगवान बोले, "प्रह्लाद, तुम्हारी निष्काम भक्ति देखकर मुझे तुमसे अत्यन्त प्रीति हो गयी है। हमारा दर्शन निष्फल नहीं होता, इसलिए वत्स कोई एक वर अवश्य माँग लो।" तब प्रह्लाद बोले—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥"

(विष्णुपुराण, १-२०-१९)

—अर्थात् "हे प्रभो, जो तीव्र आसक्ति अज्ञानियों को ऐहिक पदार्थों के प्रति होती है, वही मेरे हृदय में आपका स्मरण करते समय आपके प्रति निरन्तर हो।"

तब भगवान बोले, "प्रह्लाद, यद्यपि मेरे परम भक्तों को इहलोक और परलोक में किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती है, तथापि मेरे आदेश से सदा मुझमें भक्ति रखते हुए, कल्पान्त तक तुम इस लोक का ऐश्वर्य-भोग और पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करो और इस प्रकार काल-क्रम से देहपात होनें पर तुम मुझे प्राप्त करोगे।"

इस प्रकार प्रह्लाद को वर प्रदान कर भगवान विष्णु अन्तर्हित हो गये। तब ब्रह्मा प्रभृति देवगण भी प्रह्लाद को दैत्यराज अभिषिक्त कर अपने अपने लोक को प्रस्थान कर गये।

विश्व के महान् आचार्य

(३ फरवरी १९०० को पैसाडेना शेक्सपियर समिति में दिया हुआ भाषण)

हिन्दुओं के मतानुसार यह विश्व तरंगों की भाँति गतिमान है। वह एक बार उठता है और उन्नति की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेता है; तदनन्तर उसका पतन प्रारम्भ होता है—कुछ समय तक वह इसी प्रकार अवनति के गर्त में पड़ा रहता है, मानो, पुन: उत्थान के लिए शक्ति संग्रह कर रहा हो! सागर की भीम-काय तरंगों के समान निरन्तर उत्थान और पतन, पतन और उत्थान—यही विश्व की गति है। समष्टि के लिए जो विधान सत्य है, वही व्यष्टि के लिए भी सत्य होगा। मनुष्य-समाज के सभी व्यापारों में भी यही तरंगवत् उत्थान और पतन की गति है, राष्ट्रों के इतिहास भी इसी उत्थान और पतन की कहानियाँ हैं, वे उठते हैं और गिरते हैं--उत्थान के बाद पतनकाल आता है और पतन के पश्चात् पहले की अपेक्षा और भी अधिक शक्ति के साथ पुनरुत्थान होता है। निरन्तर यही उत्थान और पतन का चक्र चलता रहता है। धार्मिक जगत् में भी अनवरत रूप से यही क्रिया चल रही है। प्रत्येक जाति के आध्यात्मिक जीवन में पतन और उत्थान के युग होते हैं। जब जाति की अवनति होती है, तो प्रतीत होता है कि उसकी जीवनशक्ति नष्ट हो गयी है—वह छिन्न-भिन्न हो गयी है। किन्तु वह पुन: बलसंग्रह करती है--उन्नति करने लगती है—जागृति की एक विशाल लहर उठती है और सदैव यही देखा जाता है कि इस विशालकाय तरंग के उच्चतम सिर पर कोई दिव्य महापुरुष विराजमान रहते हैं। एक ओर जहाँ वे उस तरंग—उस जाति के अभ्युत्थान—के शक्तिदाता होते

हैं, वहीं दूसरी ओर वे स्वयं उस महती शक्ति के फलस्वरूप होते हैं, जो (शक्ति) उस अभ्युदय—उस तरंग का मूल है। इस प्रकार वे एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं—परस्पर के स्रष्टा एवं सृष्ट हैं—जनक एवं जन्य हैं। वे एक ओर समाज को अपनी महान् शक्ति से प्रभावित तथा अभिभूत करते हैं, और दूसरी ओर समाज ही उनकी इस प्रचण्ड शक्ति के आविर्भाव का कारण होता है। ये ही संसार के महान् विचारक एवं मनीषी होते हैं, ये ही दुनिया के पैगम्बर, जीवन-दर्शन के सन्देश-वाहक ऋषि और ईश्वर के अवतार कहलाते हैं।

कुछ व्यक्तियों की धारणा है कि दुनिया में केवल एक ही धर्म, एक ही ईश्वरावतार या एक ही पैगम्बर हो सकता है, किन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। इन सब महापुरुषों के जीवन का अध्ययन और मनन करने पर हमें ज्ञात होगा कि उनमें से प्रत्येक को विधाता ने मानो केवल एक—बस एक अंश का अभिनय करने के लिए ही निर्दिष्ट किया था। हम यह भी देखेंगे कि सब स्वरों के समन्वय से ही एकलयता उत्पन्न होती है, किसी एक स्वर से नहीं। विभिन्न राष्ट्रों और जातियों के इतिहास भी यह बतायेंगे—कोई जातिविशेष सदा के लिए संसार का उपभोग करने की अधिकारिणी नहीं रह सकती। जातियों की इस ईश्वरनिर्दिष्ट एकलयता में सभी जातियों को अपने अपने अंश का अभिनय करना पड़ता है, सभी जातियों को अपना अपना जीवन-ध्येय प्राप्त करना पड़ता है, अपने अपने कर्तव्य की पूर्ति करनी पड़ती है। इन सब की समष्टि ही उस महान् समन्वय—उस महान् एकलयता का निर्माण करती है।

जाति सम्बन्धी उपरोक्त बात महापुरुषों और पैगम्बरों

पर भी लागू होती है। उनमें से कोई भी सारे विश्व पर सदा के लिए शासन करने नहीं जन्मा है। ऐसा न तो आज तक हुआ है और न भविष्य में कभी होगा ही। उनमें से प्रत्येक ने मानव-जाति की शिक्षा में अपना अंश प्रदान किया है। जहाँ तक इस अंश का सम्बन्ध है, कहा जा सकता है कि समय प्राप्त होने पर अवश्य ही प्रत्येक महापुरुष विश्व के शासक व भाग्यविधाता बनेंगे।

हममें से अनेक जन्मतः ही सगुण धर्म, अवतारवाद में श्रद्धा रखते-हैं। हम सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं। सूक्ष्म तत्त्वों और उपपत्तियों पर विचार-विमर्श करते हैं। यह ठीक है, किन्तु हमारे प्रत्येक कार्य, प्रत्येक विचार से यही प्रकट होता है कि हम किसी तत्त्व को केवल तभी समझ सकते हैं, जब किसी व्यक्तिविशेष के चरित्र में हम उसे उतरा हुआ पाते हैं। किसी सूक्ष्म तत्त्व की धारणा में हम तभी समर्थ होते हैं, जब वह किसी पुरुषविशेष के रूप में साकार रूप धारण कर लेता है। केवल दृष्टान्त की सहायता से ही हम उपदशों को समझ पाते हैं। काश! ईश्वरेच्छा से हम सब इतने उन्नत होते कि हमें तत्त्वविशेष की धारणा करने में दृष्टान्तों एवं आदर्श पुरुषों के माध्यम की आवश्यकता न पड़ती। किन्तु हम उतने उन्नत नहीं हैं; और इसलिए स्वभावतः ही अधिकांश मनुष्यों ने इन असाधारण व्यक्तियों—ईसाईयों, बौद्धों और हिन्दुओं द्वारा पूजित इन पैगम्बरों और अवतारों—को आत्मसमर्पण कर दिया है। मुसलमानों ने तो आरम्भ से ही ऐसी उपासना का विरोध किया है। पर इस कट्टर विरोध के बावजूद भी हम देखते हैं कि एक पैगम्बर की उपासना तो दूर रही, वे प्रत्यक्षतः सहस्रों पीरों की पूजा करते पाये जाते हैं। प्रत्यक्ष घटनाओं को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिविशेष की

अर्चना हमें करनी ही होगी। इसी में हमारा हित है। तुम्हारे उपास्य-देव ईसा को जब लोगों ने पूछा, "प्रभु, हमें परमपिता परमेश्वर के दर्शन कराइये," तो ईसा न कहा, "जिसने मुझे देख लिया है, उसने परमपिता को भी देखा लिया है।" उनके इस उत्तर का आप स्मरण करें। हम ईश्वर का केवल मानवीय भाव में दर्शन कर सकते हैं। हममें ऐसा कौन है, जो ईश्वर की मानवातिरिक्त अन्य भाव में कल्पना कर सकता है ? केवल मनुष्य-रूप म, केवल मानवता के माध्यम से ही हम ईश्वर-दर्शन कर सकते हैं। इस कमरे में सर्वत्र प्रकाश का स्पन्दन वर्तमान है, किन्तु हम उसे सर्वत्र देखने में क्यों असमर्थ है ? हम केवल किसी दीप में ही उसे देख सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर भी सर्वव्यापी, निराकार एवं निर्गुण तत्त्व है, किन्तु हमारी प्रकृति ही ऐसी है कि हम केवल किसी नररूपधारी अवतार के माध्यम से ही उसकी उपलब्धि कर सकते हैं—उसका साक्षात्कार कर सकते हैं। जब इन महान् ज्योतिर्मय आत्माओं का विश्व में आविर्भाव होता है, तभी मनुष्य को ईश्वर-साक्षात्कार होता है। और हम जिस रूप में विश्व में पदार्पण करते हैं, वे उस प्रकार विश्व में नहीं आते। हम विश्व में आते हैं भिक्षुकों और अकिंचनों की भाँति, दरिद्रों और कंगालों के रूप में, पर उनका आगमन होता है सम्राटों की भाँति, मानव-हृदय पर युगों तक राज्य करने। मातृपितृविहीन अनाथों-से, भूले बटोहियों-से किंकर्तव्यविमूढ़ हो हम सब विश्व में भटकते रहते हैं। हम नहीं जानते कि हमारे जीवन का अर्थ और उद्देश्य क्या है। हमारे इस उद्देश्यहीन जीवन में हम आज तो एक काम करते हैं और कल दूसरा। हम प्रवाह-पतित तिनकों की भाँति लहरों के थपेड़े खाते इधर-उधर बहते जाते हैं

तथा झंझा में उड़ते पंखों के समान अन्त में इतस्ततः गिर पड़ते हैं।

किन्तु हमें दिखेगा कि मानवजाति के इतिहास में विश्व के कल्याण के लिए जो अवतार हुए हैं, उनका जीवनव्रत प्रारम्भ से ही निश्चित रहा है। अपने जीवन का सारा नक्शा, सारी योजना उनकी आँखों के सामने थी, और उससे वे एक इंच भर भी न डिगे। इसका कारण यह है कि वे अपने जीवन में विश्व के लिए एक सन्देश लेकर आयें थे। उनके जीवन में एक लक्ष्य था, एक व्रत था। वे केवल उसे पूरा करना चाहते थे, उसके सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करना नहीं। क्या तुमने ऐसे किसी पैगम्बर या अवतार के सम्बन्ध में सुना या पढ़ा है, जिसने अपने उपदेशों को युक्ति का आधार दिया है? उनमें से किसी नें अपने विचार एवं कार्य की पुष्टि तर्क द्वारा नहीं की। और वे करते भी क्यों? वे तो सीधे शब्दों में सत्य को व्यक्त करना जानते हैं। उनमें सत्य के दर्शन करने की क्षमता है—और है उसे दूसरों को दिखाने की सामर्थ्य। यदि तुम मुझसे पूछो कि ईश्वर है या नहीं, और मैं कह दूँ कि हाँ, ईश्वर है, तो तुम झट मुझे अपनी युक्तियाँ बताने के लिए बाध्य करोगे, और मुझ बिचारे को कुछ युक्तियाँ पेश करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देनी पड़ेगी। किन्तु यदि कोई ईसा से यदि प्रश्न पूछता तो ईसा तत्काल उत्तर देते, "हाँ, ईश्वर है।" और यदि तुम ईसा से इसका प्रमाण माँगते, तो निश्चय ही ईसा ने कहा होता, "लो, यह ईश्वर तुम्हारे सम्मुख खड़ा है, दर्शन कर लो।" इस प्रकार हम देखते हैं कि इन महापुरुषों की ईश्वर-विषयक धारणा साक्षात् उपलब्धि, प्रत्यक्ष दर्शन पर आधारित है, तर्कजन्य नहीं। वे अन्धकार में

नहीं टटोलते, उनके कथन में प्रत्यक्ष दर्शन का बल होता है। जब मैं इस मेज को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, तो फिर कोई भले ही शत-शत युक्तियों द्वारा क्यों न चेष्टा करे, इस मेज के अस्तित्व में मेरा विश्वास नष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार ये महापुरुषगण भी अपने विश्वास पर अटल रहते हैं, क्योंकि वे ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और इसलिए उन्हें अपने आदर्शों में, अपने ध्येय में और सर्वोपरि, स्वयं में अटल विश्वास एवं श्रद्धा है। इन दिव्य पुरुषों में जितना आत्मविश्वास है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं दिखता। लोग पूछते हैं—"क्या तुम ईश्वर में विश्वास रखते हो? क्या तुम परलोक के अस्तित्व को मानते हो? क्या इस मत में या उस शास्त्रादेश में श्रद्धा रखते हो?" लोग ये सब विश्वास सम्बन्धी प्रश्न पूछते तो हैं, पर उन्हें यह पूछना कभी नहीं सूझता कि "तुम्हारा स्वयं अपने ऊपर विश्वास है या नहीं।" आत्मविश्वास ही इन सब की भित्ति है। जिसे स्वयं पर विश्वास नहीं है, उससे अन्य तत्त्वों में विश्वास रखने की आशा कैसे की जा सकती है? हम अपने अस्तित्व के विषय में भी तो संशयरहित नहीं हैं। कभी हम सोचते हैं—हम नित्यसत्यस्वरूप हैं, कोई हमारा नाश नहीं कर सकता, और दूसरे ही क्षण हम मृत्यु-भय से काँपने लगते हैं। अभी हम सोचते हैं कि हम अजर, अमर हैं और पल भर ही बाद अपनी ही कल्पना का कोई भूत देखकर हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, हमें यह भी ध्यान नहीं रहता कि हम क्या हैं और कहाँ हैं, जीवित हैं या मृत हैं। कभी सोचते हैं कि हम बहुत धार्मिक हैं, अत्यन्त चरित्रसम्पन्न और पवित्र हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण एक धक्का लगता है और हम चारों कोने चित हो जाते हैं। इसका कारण? कारण यही है

कि हमारा आत्मविश्वास मर गया है, हमारी नैतिकता की रीढ़ टूट गयी है।

मानवजाति के इन महान् आचार्यों में तुम्हें यह एक लक्षण सर्वत्र दिखेगा कि उनमें प्रचण्ड आत्मविश्वास भरा है। उनका यह आत्मविश्वास असाधारण है, इसलिए हम उसे पूर्णतया नहीं समझ सकते। इसीलिए इन महापुरुषों के आत्मविषयक वचनों एवं कथनों को हम कई प्रकार से व्याख्या करके उड़ा देने का प्रयत्न करते हैं, तथा उन्होंने अपने साक्षात्कार, अपनी ईश्वरोपलब्धि के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं, उनका अर्थ लगाने के लिए सहस्रों मतवादों की सृष्टि कर लेते हैं। हम अपने विषय में उन महापुरुषों के समान नहीं सोच सकते, और इसीलिए स्वाभाविकतया, हम उन्हें समझ भी नहीं पाते।

जब इन महापुरुषों के मुख से शब्द निकलते हैं, तो सारा विश्व बाध्य होकर उन्हें सुनता है। जब वे बोलते हैं, तो एक एक शब्द सीधे हृदय में प्रवेश करता है, वह बम के समान फूट पड़ता है और सुननेवाले पर अपना असीम प्रभाव जमा लेता है। निरी वाणी में क्या है, यदि वाणी के पीछे वक्ता की प्रचण्ड शक्ति न हो? तुम किस भाषा में बोलते हो और किस प्रकार अपनी भाषा में शब्दविन्यास करते हो—इससे किसी को क्या मतलब? तुम अच्छी, लच्छेदार, ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हो, या व्याकरण-सम्मत भाषा बोलते हो, अथवा तुम्हारी भाषा अलंकारपूर्ण है या नहीं—इससे भी किसी का क्या प्रयोजन? प्रश्न तो है—तुम्हारे पास लोगों को देने के लिए कुछ है या नहीं? यहाँ केवल कहानी-किस्से सुनने की बात नहीं है, बात है देने और लेने की। तुम्हारे पास देने के लिए कुछ है? यही पहला

और मुख्य प्रश्न है । यदि है, तो दो । शब्द तो केवल तुम्हारी देन को लोगों तक पहुँचा देंगे, ये तो केवल एक माध्यम हैं । कभी-कभी हम देखते हैं कि मौन रहकर भी एक व्यक्ति दूसरे में भाव संचारित करता है । दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र में कहा है :

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा ।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ।।

"आश्चर्य ! इस वटवृक्ष के नीचे युवक गुरु एवं वृद्ध शिष्यगण आसीन हैं । मौन ही गुरु का शास्त्र-व्याख्यान है और उसीसे शिष्यों की शंकाएँ नष्ट होती जा रही हैं ।"

इस प्रकार कभी कभी शब्दों की सहायता के बिना भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सत्य का संचार हो जाता है । ये महापुरुष दुनिया के लिए एक सौगात, एक देन, एक भेंट लेकर आते हैं । ये ईश्वर के दूत हैं--ये उसका आदेश लेकर आते हैं, और हमारा काम है उसे शिरोधार्य करना । क्या तुम्हें याद नहीं, स्वयं ईसा ने तुम्हारे शास्त्रों में किस अधिकारपूर्ण वाणी से लोगों को आज्ञा दी है, "अतएव तुम जाओ और दुनिया की तमाम कौमों को वह सब अमल में लाने के लिए सिखाओ, जिसे मानने का मैंने तुम्हें हुक्म दिया है ।" 'मुझे जगत् को विशेष कुछ देना है' इस बात में प्रचण्ड विश्वास ईसा की समस्त उक्तियों में देखा जाता है और यही प्रबल विश्वास तुम्हें संसार के उन सब महापुरुषों की वाणी में मिलेगा, जिन्हें दुनिया पैगम्बरों और अवतारों के रूप में पूजती आ रही है ।

मानव जाति के ये महान् आचार्यजन पृथ्वी पर अवतीर्ण जीवन्त ईश्वर-स्वरूप हैं । इनके अतिरिक्त हम और किनकी उपासना करें ? मैं अपने मन में ईश्वर की धारणा करने का

प्रयत्न करता हूँ और अन्त में पाता हूँ कि मेरी धारणा अत्यन्त क्षुद्र और मिथ्या है । इस प्रकार कल्पित ईश्वर की उपासना अधर्म है । फिर जब मैं अपनी आँखें खोलकर पृथ्वी के इन महान् महात्माओं के चरित्र और उनकी लीलाओं को देखता हूँ, तो मुझे प्रतीत होता है कि ईश्वरविषयक मेरी उच्च से उच्च धारणा से भी वे कहीं उच्चतर और महान् हैं । मेरे जैसा व्यक्ति, जो किसी चोर का पीछा कर, उसे पकड़कर कारावास की यातनाएँ सहने के लिए बाध्य करता है, दया की क्या कल्पना—क्या धारणा कर सकेगा ? क्षमा-दया सम्बन्धी मेरी उच्चतम कल्पना कहाँ तक पहुँच सकती है ? मैं जितना दयाशील हूँ, क्षमाशील हूँ, बस वहीं तक मेरी क्षमा और दया की कल्पना पहुँच सकेगी । मैं जहाँ तक गुणसम्पन्न हूँ, तदपेक्षा उच्चतर धारणा मेरी हो ही नहीं सकती । अपनी भौतिक सीमाओं को कौन लाँघ सकता है ? अपनी मानसिक चहारदीवारी कौन पार कर सकता है ? ईश्वरी प्रेम के बारे में हमारी धारणा और क्या हो सकती है ? हम अपने इस क्षुद्र जीवन में आपस में जो प्रेम करते हैं; उसकी अपेक्षा प्रेम की उच्चतर धारणा हम कर ही कैसे सकते हैं ? जिसका हमने कभी अनुभव ही नहीं किया, उसकी कल्पना भला हम कैसे कर सकेंगे ? इसलिए अपने मन में ईश्वर की कल्पना एवं धारणा करने के मेरे सभी प्रयत्न व्यर्थ हैं । किन्तु इन महापुरुषों के जीवन की प्रत्यक्ष घटनाएँ हमारे सामने हैं, उनके दया, प्रेम एवं पवित्रता से भरे ऐसे प्रत्यक्ष कार्य हैं, जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकेंगे । तब फिर क्या आश्चर्य है, यदि मैं इन महापुरुषों की चरण-वन्दना कर, उनके पदाम्बुजों में लुण्ठित हो ईश्वर के रूप में उनकी अर्चना करूँ ? और कोई अन्य भी इसके अतिरिक्त

और क्या करेगा ! निराकार तत्त्व के बारे में लम्बी-लम्बी बातें करना सरल है, पर मुझे एक तो ऐसा व्यक्ति बताओ, जो उपर्युक्त साकार-उपासना के अतिरिक्त और कुछ कर सके। करने और कहने में बहुत भेद है। निराकार ईश्वर, निर्गुण तत्त्व आदि के विषय में कल्पना करना कठिन नहीं, और कोई करे तो मुझे आपत्ति नहीं, किन्तु ये नर-देव—ये मानवरूपधारी देवता, सदा से सभी जातियों और सभी राष्ट्रों के यथार्थ में ईश्वर रहे हैं। ये सकल देवमानव चिरकाल से पूजित होते रहे हैं, और तब तक पूजित होते रहेंगे, जब तक मानव मानव बना रहेगा। उन्हीं को देखकर 'यथार्थ ईश्वर है, यथार्थ धर्म जीवन है' आदि विषयों में हमारा विश्वास हो सकता है, और ईश्वरोपलब्धि, धर्मजीवन-लाभ की हम आशा कर सकते हैं। केवल अस्पष्ट रहस्यमय तत्त्व-विवेचना से क्या लाभ ?

मेरे कथन का तात्पर्य—में जो आपसे कहना चाहता हूँ उसका उद्देश्य—केवल यही है कि मैंने अपने जीवन में इन सब अवतारों की उपासना कर सकना सम्भव पाया है, तथा भविष्य में होनेवाले अनेक अवतारों की उपासना करने को प्रस्तुत हूँ। एक माँ अपने बच्चे को किसी भी वेश में पहचान लेती है, और यदि कोई स्त्री यह नहीं कर सकती, तो यह निश्चय है कि वह उस बच्चे की माँ नहीं है ! अतः तुममें से जो जो किसी एक विशेष अवतार में ही सत्य तथा ईश्वर की अभिव्यक्ति देखते हैं और दूसरों में नहीं, उनके विषय में स्वाभाविकतया मेरा निष्कर्ष यही है कि वे किसी भी अवतार के ईश्वरत्व को नहीं जानते। ऐसे व्यक्तियों ने केवल कुछ शब्द मात्र निगल लिये हैं, और जिस प्रकार राजनीति में व्यक्ति सत्यासत्य की चिन्ता

न कर किसी एक दल का साथ देने लगते हैं उसी प्रकार ऐसे व्यक्तियों ने भी एक सम्प्रदाय विशेष को ही अपना सर्वस्व मान लिया है। पर यह धर्म नहीं है। संसार में ऐसे अन्धे तथा मूढ़ भी कई हैं, जो समीप में शुद्ध और मीठे पानी का कुआँ होने पर भी खारे कुएँ का ही पानी पीयेंगे, क्योंकि उस कुएँ को उनके पूर्वजों ने खुदवाया था ! अतएव, मैंने अपने अल्प अनुभव से यही सीखा है कि धर्म में जो दोष एवं त्रुटियाँ लोग देखते हैं, उनके लिए धर्म का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, उसमें धर्म का कोई दोष नहीं है। धर्म ने कभी मनुष्यों पर अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी, धर्म ने कभी स्त्रियों को चुड़ैल तथा डाइन कहकर जीवित जला देने का आदेश नहीं दिया, किसी धर्म ने कभी इस प्रकार अन्यायपूर्ण कार्य करने की शिक्षा नहीं दी। तब लोगों को ये अत्याचार, ये अनाचार करने के लिए किसने उत्तेजित किया ? कूटनीति ने—धर्म ने नहीं, और यदि इस प्रकार की कुटिल राजनीति धर्म का स्थान अपहरण कर ले, धर्म का नाम धारण कर ले, तो यह दोष किसका है ?

इसलिए, जब एक व्यक्ति खड़ा होकर आह्वान करता है कि केवल मेरा धर्म ही सच्चा है, मेरा पैगम्बर ही सच्चा है, तो वह झूठ बोलता है—उसे अपने धर्म का 'क, ख' भी मालूम नहीं। धर्म न तो सिद्धान्तों की थोथी बकवास है, न मत-मतान्तरों का प्रतिपादन तथा खण्डन है और न अन्यान्य के विचारों से बौद्धिक सहमति ही है। धर्म का अर्थ है—हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में सत्य की उपलब्धि, धर्म का अर्थ है ईश्वर का संस्पर्श प्राप्त करना, इस तत्त्व की प्रतीति करना—उपलब्धि करना कि मैं आत्मस्वरूप हूँ और अनन्त परमात्मा एवं उसके अनेक अवतारों से मेरा युग-

युग का अच्छेद्य सम्बन्ध है। यदि तुमने यथार्थ में उस परमपिता के गृह में प्रवेश किया है, तो अवश्य ही उसके पुत्रजन का दर्शन किया होगा। तब फिर यह क्यों कहते हो कि तुम उन्हें नहीं पहचानते? और यदि तुम वास्तव में उन्हें नहीं पहचानते हो तो यह सत्य है कि तुम ईश्वर के गृह में अब तक प्रवेश नहीं पा सके हो। जननी अपने वत्स को किसी भी वेश में पहचान लेती है; पुत्र का छद्मवेश उसकी आँखों को धोखा नहीं दे सकता। सभी युगों एवं सभी देशों के इन महान् नर-नारियों को पहचानो, और यह ज्ञान प्राप्त करो कि उनमें परस्पर में कोई भेद, कोई अन्तर और पार्थक्य नहीं है। जहाँ कहीं भी यथार्थ धर्म का विकास हुआ है, यह दिव्य ब्रह्म-संस्पर्श हुआ है, ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है, आत्मा द्वारा परमात्मा की प्रत्यक्ष उपलब्धि हुई है, वहाँ व्यक्तियों का हृदय इतना विशाल व उदार बन गया है कि वे देश तथा काल के बन्धनों से मुक्त होकर ईश्वर एवं उसके अवतारों की परम ज्योति का दर्शन सर्वत्र—सभी धर्मों और सभी देशों के अवतारों में करते हैं।

मुसलमान इस विषय में सर्वाधिक साम्प्रदायिक, संकीर्ण एवं पिछड़े हुए हैं। उनका मूलमन्त्र है : दुनिया में एक ही खुदा है और उसका एक ही पैगम्बर है। अतएव जो इस सिद्धान्त को नहीं मानते, जो वस्तुएँ इस सिद्धान्त की पोषक नहीं हैं, वे केवल खराब ही नहीं, समूल नष्ट कर देने योग्य हैं, जो व्यक्ति इसमें विश्वास नहीं करता, उसे मौत के घाट उतार देना चाहिए, मस्जिदों के अतिरिक्त जो उपासना-गृह हैं, उन्हें जमींदोस्त कर देना चाहिए, कुरान का विरोध करनेवाली सारी पुस्तकों का अग्नि-संस्कार कर देना चाहिए। केवल इसीलिए उन्होंने अपनी

तलवारों से पूरी पाँच शताब्दियों तक, ऐटलाण्टिक और प्रशान्त महासागर के मध्य में स्थित सारे भूमिखण्ड को रक्ताभिषेक कराया है। यह है इस्लाम। किन्तु इन खूंख्वार और कट्टर मुसलमानों में भी, दार्शनिक प्रकृति की जो कुछ प्रबुद्ध आत्माएँ थीं, उन्होंने इन अत्याचारों का प्रतिवाद किया, उनके विरोध में अपनी आवाज उठाना अपना धर्म समझा। अपने इस उदार कार्य द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि उन्हें भी ब्रह्म-संस्पर्श-लाभ हो गया है, सत्य के एक अंश की उपलब्धि हो गयी है। वे अपने धर्म से खिलवाड़ नहीं कर रहे थे, क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया था कि केवल उनके पूर्वजों का धर्म ही सत्य धर्म नहीं है, अपितु सभी अवतार, सभी पैगम्बर एवं सभी धर्म एक हैं और सत्य हैं।

आजकल अर्वाचीन उत्क्रान्तिवाद अर्थात् क्रम-विकासवाद के सिद्धान्त के साथ एक और चीज भी देखनें में आती है—यह है अपक्रान्तिवाद अर्थात् क्रमावनति या पूर्वावस्था की ओर पुनरावर्तन (Atavism)। धार्मिक क्षेत्र में भी देखा जाता है कि हम कई उदारतर भावों के साथ कुछ अग्रसर हो पुनः प्राचीन संकीर्ण मतों की ओर लौट आते हैं। किन्तु ऐसा न कर हमें किसी नयी दिशा में विचार करने का प्रयत्न करना चाहिए, चाहे वह गलत ही क्यों न हो। निश्चेष्ट रहने की अपेक्षा तो यही श्रेयस्कर है। हम क्यों न लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करें! असफलताओं से ही ज्ञान का उदय होता है। अनन्तकाल हमारे सम्मुख है—फिर हम हताश क्यों हों! दीवाल को देखो। क्या वह कभी मिथ्या भाषण करती है? पर उसकी उन्नति भी कभी नहीं होती——वह दीवाल की दीवाल ही रहती है। मनुष्य मिथ्या भाषण करता है,

किन्तु उसमें देवता बनने की भी क्षमता है। नर नारायण भी बन सकता है। इसलिए हमें सदैव क्रियाशील--प्रयत्नशील बने रहना चाहिए। कोई परवाह नहीं यदि हम गलत रास्ते पर जा रहे हों, कुछ न करने से यह अच्छा ही है। गाय कभी झूठ नहीं बोलती —पर वह सदैव गाय ही बनी रहती है। इसलिए क्रियाशील बनो, कुछ न कुछ करते रहो। चिन्तन करना सीखो—नये विचारों को जन्म दो--चाहे वे गलत ही क्यों न हों। हमारे पूर्वजों ने इस प्रकार कोई विचार नहीं किया, इसलिए क्या हम भी घुटनों पर माथा टेककर बैठे रहें और अपनी भावनाशक्ति तथा विचारशक्ति खो दें? इस अवस्था में तो मृत्यु अधिक श्रेयस्कर है। जीवन का मूल्य ही क्या रहा, यदि धर्म के सम्बन्ध में हमारे अपने कुछ विचार, हमारी अपनी कुछ जीवन्त धारणाएँ न हों? नास्तिक जन भी हमसे कहीं अच्छे हैं, उनसे कुछ आशाएँ की जा सकती हैं, क्योंकि दूसरों से उनका मतभेद होने पर भी, वे कम से कम खुद कुछ विचार करते हैं। जो स्वयं विचार नहीं करते, उन्होंने अभी धर्मराज्य में पदार्पण नहीं किया है। वे जेली-फिश* के समान केवल नाम मात्र के लिए जीवित हैं। वे स्वयं विचार नहीं करते, वे वास्तव में धर्म का कोई आदर नहीं करते। किन्तु अविश्वासी नास्तिक जिज्ञासु और यत्नशील है, वह धर्म की परवाह करता है--उसके लिए प्राणपण से चेष्टा करता है। इसलिए जागो और सोचो, प्राणपण से प्रयत्न कर ईश्वराभिमुख गमन करो। सफलता की चिन्ता न करो; यदि इस प्रकार अपने स्वरूप का चिन्तन करते करते तुम किसी

---

* जेली-फिश (Jelly-Fish) एक प्रकार का जलचर जीव है, जो दिखने में जेली या मुरब्बे के समान होता है।

विचित्र सिद्धान्त तथा मत की सृष्टि कर लो, तो भी क्या ? यदि तुम्हें भय है कि लोग तुम्हें विचित्र और अजीब कहने लगेंगे, तो अपने सिद्धान्त को अपने तक ही सीमित रखो। दूसरों में प्रचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु चुपचाप मत बैठो, कुछ करो। ईश्वर की ओर यत्नपूर्वक बढ़ो। एक दिन अवश्य तुम्हें प्रकाश के दर्शन होंगे--एक दिन अवश्य तुम्हारे अन्धकारपूरित हृदय में ज्ञान की किरणों का प्रकाश पहुँचेगा। यदि कोई आदमी रोजरोज अपने हाथ से मुझे भोजन कराता रहे, तो कुछ ही दिनों में मेरे हाथ बेकार हो जायेंगे। भेड़ों की तरह एक दूसरे के पीछे चलने से आध्यात्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है। निश्चेष्टता का फल ही मृत्यु है। अतएव कार्यशील बनो। और जहाँ क्रियाशीलता है, वहाँ विभिन्नता तो होगी ही। विभिन्नता ही जीवन का रस है, विभिन्नता में ही जीवन का लावण्य है। यही कला का प्राण है, यही जीवन का चिह्न है, यही जीवन-प्रवाह का मूलस्रोत है। फिर इसका भय क्यों ?

अब हम इन महापुरुषों का चरित कुछ समझ सकेंगे। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि धर्म का नाम मात्र आश्रय ले निश्चेष्ट पड़े रहने के बदले जहाँ जहाँ यथार्थ में कुछ चिन्तन किया गया है--ईश्वर के प्रति प्रेम एवं भक्ति की भाव-सरिता प्रवाहित हुई है, वहीं आत्मा ईश्वर की ओर अग्रसर हुई है और उसे जीवन में, क्षण भर के लिए क्यों न हो, बीच बीच में उस परम वस्तु की झलक मिली है, उसका साक्षात्कार हुआ है। उस समय--

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"*

* मुण्डकोपनिषद्--२-२-८

—अर्थात् "हृदय के कुटिल भावों का नाश हो जाता है, सारी शंकाएँ दूर हो जाती हैं और कर्मों का क्षय हो जाता है, क्योंकि उस समय उस परम तत्त्व के दर्शन हो जाते हैं, जो दूर से भी दूरतम तथा निकट से भी निकटतम है।" यही यथार्थ धर्म है, यही धर्म का सार है, इसके अतिरिक्त अन्य सब केवल मत-मतान्तर मात्र हैं, कोरे सिद्धान्त हैं, उस परम अवस्था तक पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग हैं। हम इस अवस्था को, धर्म के इस आदर्श को भूल गये हैं और केवल उसके बाह्य स्वरूप को लेकर झगड़ रहे हैं। टोकनी के फल तो कीचड़ में गिर गये हैं, और हम टोकनी को ही सारे झगड़ों का विषय बना बैठे हैं।

धर्म पर विवाद करनेवाले दो व्यक्तियों से जरा यह पूछकर देखिये, 'क्या तुमने ईश्वर को देखा है? क्या तुमने उन सब अतीन्द्रिय विषयों का अनुभव किया है जिनके लिए तुम झगड़ रहे हो?' एक व्यक्ति कहता है—'ईसा मसीह ही सच्चा पैगम्बर है।' ठीक है। पर उससे पूछो, 'क्या तुमने ईसा को कभी देखा है? क्या तुम्हारे पिता ने ईसा को देखा था?' 'नहीं।' 'क्या तुम्हारे पितामह ने ईसा को देखा था?' 'नहीं।' 'तब तुम विवाद किस बात पर कर रहे हो? फल तो जमीन पर गिर गये हैं, और तुम टोकनी को लेकर विवाद कर रहे हो।' समझदारों और सभ्य स्त्री-पुरुषों को इस प्रकार झगड़ते हुए शर्म आनी चाहिए।

ये सब पैगम्बर और ईशदूत यथार्थ में महान् और सच्चे थे। क्यों? इसलिए कि उनमें से हर एक ने अपने जीवनकाल में एकएक महान् भाव का—एकएक महान् सिद्धान्त का प्रचार किया है। उदाहरण के लिए भारतवर्ष के महान् अवतारों को ही लीजिये।

ये धर्म के प्राचीनतम संस्थापक हैं। पहले हम श्रीकृष्ण का ही जीवन लें। आपमें से जो गीता के पाठक हैं, वे जानते हैं कि उस ग्रन्थ का मूल-सिद्धान्त है अनासक्ति, उसकी मुख्य शिक्षा है-- अनासक्त रहो। तुम्हारे हृदय के प्रेम पर केवल एक व्यक्ति का अधिकार है—केवल उसका अधिकार है, जो अविकारी और अव्ययी है। वह कौन है ? वह केवल ईश्वर ही है। इसलिए अपना हृदय किसी परिर्वतनशील वस्तु या व्यक्ति को समर्पित मत करो, इसका अन्त दु:खमय होगा। यदि तुम किसी व्यक्ति-विशेष को अपना हृदय अर्पित कर देते हो, तो उसकी मृत्यु के पश्चात् सारा संसार तुम्हारे लिए दु:खपूर्ण बन जायगा। आज जिसे अपने से अभिन्न मानकर तुम हृदय समर्पित कर चुके हो, सम्भव है कल उसीसे तुम्हारा वैमनस्य हो जाय। जिस पति को तुमने अपना हृदयेश्वर मानकर अपना स्नेह अर्पित किया है, उसको तुमसे उपरति हो जाने पर तुम्हें सिसकियाँ भर भरकर क्रन्दन करना पड़ेगा। जिस पत्नी को तुमने अपने हृदय सिंहासन की रानी बना लिया है, उसकी मृत्यु हो जाने पर तुम्हारे सुखों का संसार धूल में मिल जायगा। यही संसार की रीति है। ये पार्थिव सुख क्षणभंगुर हैं, सपनों-से अचिर हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है—एक मात्र ईश्वर ही अविकारी और अपरिणामी है। उसका स्नेह अनन्त और अपरिवर्तनशील है। हम कहीं भी रहें और कुछ भीं करें, पर उस दयानिधि की दया में कोई अन्तर नहीं आता, उसके स्नेह की सरिता सदैव उसी प्रकार हमारे लिए प्रवाहित होती रहती है। उसमें कभी परि-वर्तन नहीं होता, हमारे अधम कार्यों पर भी वह कभी क्रुद्ध नहीं होता। और वह हम पर क्रुद्ध हो भी तो क्यों ?

तुम्हारा नटखट बच्चा कितनी भी शरारत क्यों न करता हो, पर तुम उस पर कभी नहीं बिगड़ते। हम भविष्य में क्या होनेवाले हैं, कितने महान् होनेवाले हैं—यह क्या ईश्वर नहीं जानता? उसे ज्ञान है कि यथाकाल हम सब पूर्णता प्राप्त कर लेंगे। इसलिए हममें सैकड़ों दोष रहने पर भी वह विचलित नहीं होता, उसका धैर्य असीम है। अतएव हमें उससे प्रेम करना चाहिए, प्राणिमात्र को उसका प्रकाश मानकर सब के प्रति स्नेहशील बनना चाहिए। यही गीता की शिक्षा का सार है, और इसी को अपने जीवन का मूलमन्त्र मानकर जीवन पथ पर अग्रसर होना चाहिए। अपनी पत्नी को तुम अपने हृदय में स्थान दो, उससे प्रेम करो, पर पत्नी के लिए नहीं। 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।'* बृहदारण्य के इस महान् वाक्य को समझो। 'हे प्रिये, पत्नी को पति प्रिय लगता है, किन्तु वह पति के लिए नहीं। उसका कारण है उसमें वर्तमान अनन्त परमात्मा।'

वेदान्त-दर्शन कहता है कि पति-पत्नी के स्नेह भाव एवं माता के वात्सल्य में भी, यद्यपि पत्नी सोचती है कि वह अपने स्वामी से प्रेम कर रही है, और माँ समझती है कि वह अपने शिशु से स्नेह कर रही है, वस्तुतः स्नेह का विषय ईश्वर ही है, जो पति और पुत्र दोनों में अवस्थित है। वही एकमेव आकर्षण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई उनका स्नेह-भाजन नहीं है। पत्नी और जननी अज्ञानवश नहीं जानतीं कि अपने पति तथा पुत्र से स्नेह करने में वे केवल ईश्वर को ही प्यार कर रही हैं, और यह अज्ञान ही भविष्य में उनके दुःख का कारण बन जाता

* बृहदारण्य उपनिषद्—४-५

हैं। ज्ञानपूर्वक किये जाने पर यही कार्य मुक्ति का मार्ग बन जाता है। यही हमारे शास्त्रों का उपदेश है। जहाँ भी प्रेम है, आनन्द का एक बिन्दु भी वर्तमान है, वहीं ईश्वर वर्तमान है; क्योंकि ईश्वर रसस्वरूप है, प्रेमस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। उसके अभाव में प्रेम और आनन्द असम्भव हैं।

श्रीकृष्ण के उपदेशों का यही भाव है। सारे भारतवर्ष पर, सारी हिन्दूजाति पर श्रीकृष्ण ने इस उपदेश की एक अमिट छाप छोड़ दी है। वह उसकी नस नस में प्रवाहित हो रही है। जब कोई हिन्दू कोई कार्य करता है, यहाँ तक कि जब वह पानी भी पीता है, तो कहता है, "इस कार्य के सभी शुभ फल ईश्वरार्पित हैं।" कोई सत्कार्य करते समय एक बौद्ध यही संकल्प करता है कि "इस कार्य के सारे शुभ फल संसार को प्राप्त हों और जगत् के दुःख एवं कष्ट मुझे मिलें।" हिन्दू कहता है, "मैं आस्तिक हूँ, ईश्वरविश्वासी हूँ, और ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्व-शक्तिमान है, सकल आत्माओं की अन्तरात्मा है। इसलिए यदि मैं अपने कार्यों का पुण्य, उनके शुभ फल ईश्वरार्पण कर दूँ, तो यह सर्वश्रेष्ठ त्याग होगा, क्योंकि अन्ततोगत्वा मेरे सत्कार्य, मेरे कार्यों के शुभ फल निश्चित ही सारे संसार को प्राप्त होंगे।"

भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों का यह केवल एक पहलू है। उनकी दूसरी महान् शिक्षा यह है: संसार में रहकर जो व्यक्ति कार्य करता है और अपने कार्यों के शुभाशुभ फल ईश्वरार्पित कर देता है, वह संसार के पापों से अलिप्त रहता है। जिस भाँति जलज जल में जन्म लेकर भी जल से अलिप्त रहता है, उसी भाँति एसा व्यक्ति सांसारिक कर्मों को करते हुए भी, उन्हें ईश्वर को समर्पित कर देने पर दोष-लिप्त नहीं होता।

प्रबल कर्मशीलता--श्रीकृष्ण की एक और महान् शिक्षा है। गीता का उपदेश है—कार्यरत रहो, दिन रात कर्म में मग्न रहो।

स्वाभाविक ही यह शंका उपस्थित होगी कि निरन्तर कर्म से शान्ति कैसे उपलब्ध होगी? यदि मनुष्य दिवारात्र, आमरण अश्व की भाँति ज़ीवन की गाड़ी खींचता रहे, और उसे खींचने-खींचते ही इहलीला समाप्त कर दे, तो मानवजीवन का अर्थ और उद्देश्य तथा मानवजीवन का मूल्य ही क्या रहा? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—नहीं, कर्मरत व्यक्ति अवश्य शान्ति का अधिकारी बनेगा। कार्य-क्षेत्र से पलायन करना शान्ति का पथ नहीं है। यदि सम्भव हो, तो अपने कर्तव्य-कर्म छोड़ दो तथा किसी पर्वत-शिखर पर जीवन-यापन करो; किन्तु वहाँ भी मन स्थिर नहीं रहेगा, वहाँ भी वह यन्त्रवत् भ्रमण करता रहेगा। किसी ने एक बार एक संन्यासी से पूछा था, "आप क्या कोई एकान्त निरुपद्रव स्थान ढूँढ़ने में सफल हो सके हैं? आप कितने वर्षों से हिमालय की मनोरम घाटियों में भ्रमण कर रहे हैं?" संन्यासी बोले, "चालीस वर्षों से।" तब उस व्यक्ति ने पुनः जिज्ञासा की, "भगवान्, हिमालय में तो निवास करने के लिए अनेक नितान्त सुन्दर स्थल हैं, तब अब तक आपने क्यों नहीं किसी स्थान का निर्वाचन किया?" संन्यासी बोले, "वत्स, इन पूरे चालीस वर्षों में जब तक मैं हिमालय में वास करता रहा, मेरे मन ने मुझे एक बार भी ऐसा करने की अनुमति नहीं दी।" हम सभी इसी प्रकार आजीवन शान्ति की शोध में लगे रहते हैं, मन में शान्तिलाभ करने का संकल्प करते हैं, पर हमारा मन हमें शान्ति नहीं लेने देता।

हम सब उस सैनिक की कहानी जानते हैं, जिनसे एक बार एक तातार को पकड़ लिया था। एक सैनिक नगर से लौटकर जब शिविर के समीप आया, तो जोर जोर से चिल्लाने लगा, "मैंने एक तातार को कैद कर लिया है, मैंने एक तातार को कैद कर लिया हैं।" शिविर में से कोई बोला, "उसे भीतर ले आओ।" सैनिक ने कहा, "वह भीतर नहीं आता।" दूसरे सैनिक ने कहा, "तब तुम्हीं भीतर आ जाओ।" पहला सैनिक बोला, "वह मुझे भी भीतर नहीं आने देता।" हम सब ने उस सैनिक की भाँति अपने-अपने मन में एक एक 'तातार' पकड़ लिया है, और न तो हम स्वयं ही उसे वश में कर सकते हैं और न वह 'तातार' ही हमें शान्तिपूर्वक जीवन यापन करने देता है। हमारी दशा भी उस सैनिक की भाँति हो गयी है। हम सब शान्त और स्थिर होने का संकल्प करते हैं। किन्तु यह तो एक शिशु भी कह सकता है और मन में सोच सकता है कि वह सफल हो जायगा। पर वस्तुतः इसमें कृतकार्य होना अत्यन्त कठिन है। मैंने भी ऐसा प्रयत्न किया है। मैं अपने कर्तव्य कर्मों को एकदम ही त्यागकर पर्वत-शिखरों की ओर प्रस्थान कर गया। मैं गहन गुहाओं एवं निबिड़ वनों में निवास करता रहा। पर व्यर्थ, क्योंकि मैंने भी एक 'तातार' पकड़ लिया था। मेरे विचारों का संसार सर्वत्र और सर्वदा मेरे साथ साथ चल रहा था। यह 'तातार' हमारे ही मन में निवास करता है, इसलिए हमें अन्य व्यक्तियों पर अपनी शान्ति भंग करने का दोषारोपण नहीं करना चाहिए। हम अपनी बाह्य परिस्थितियों को दोष देकर कहते हैं—ये परिस्थितियाँ अनुकूल हैं, ये प्रतिकूल हैं। पर हम भूल जाते हैं कि इन सब का कारण है वह 'तातार'

जो हमारे ही मानस में निवास करता है, और उसे वशीभूत कर लेने पर सब ठीक हो जायगा।

इसलिए भगवान श्रीकृष्ण की शिक्षा है कि अपने कर्तव्य-कर्म त्यागकर मत भागो, उनकी उपेक्षा न करो; मनुष्य की भाँति उन्हें पूर्ण करने का यत्न करो और उनके फलाफल की चिन्ता न करो। सेवक को 'क्यों' कहने का क्या अधिकार है? सैनिक को तर्क-वितर्क करने का अधिकार नहीं। कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होते जाओ, और इस बात की चिन्ता न करो कि तुम्हारा कर्तव्य-कर्म बड़ा है या छोटा। केवल अपने मन से पूछो कि वह निस्वार्थ भाव से कार्य कर रहा है या नहीं। यदि तुम यथार्थ में निःस्पृह हो, तो किसी बात की परवाह न करो, विश्व में कोई भी तुम्हारा पथावरोध नहीं कर पायेगा। अपने कर्तव्य में अपने को डुबा दो--जो काम हाथ में आ जाय, उसे करते जाओ। जब तुम इस प्रकार कर्तव्यरत हो जाओगे, तो शनैः-शनैः तुम्हें गीता के इस महान् सत्य की प्रतीति होने लगेगी।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।*

अर्थात् "जो प्रबल कर्मशीलता में शान्ति अनुभव करता है तथा प्रबल निस्तब्धता एवं शान्ति में कर्मशीलता का दर्शन करता है, वही पूर्ण है, विद्वान् है, वही सिद्ध है।"

अब तुम देखोगे कि श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार संसार के सभी कर्तव्य-कर्म पवित्र हैं। ऐसा कोई काम नहीं है, जिसे निकृष्ट कहा जाय। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार तो सिंहासनोपविष्ट

* गीता—४-१८

सम्राट् और सामान्य जन के कर्तव्यों का महत्त्व समान ही है-- 'कर्तव्य'-दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं।

अब गौतम बुद्ध के महान् सन्देश को सुनिये। अनायास ही उनकी महान् वाणी हृदय में घर कर लेती है। बुद्ध ने कहा है, "अपनी स्वार्थपूर्ण भावनाओं का उन्मूलन कर दो, स्वार्थपरता की ओर ले जानेवाली सारी बातें नष्ट कर दो। स्त्री-पुत्र-परिवार आदि बन्धनों तथा सांसारिक प्रपंचों से दूर रहो और सम्पूर्णतया स्वार्थशून्य बनो।" संसारी व्यक्ति मन ही मन निस्वार्थ बनने का संकल्प करता रहता हैं, किन्तु पत्नी-मुख अवलोकन करते ही उसका हृदय स्वार्थ से भर जाता है। माँ स्वार्थशून्य बनने की इच्छा करती है, पर पुत्र का मुखावलोकन करते ही उसके ये भाव लुप्त हो जाते हैं। सब की यही दशा है। ज्योंही हृदय में स्वार्थपूर्ण कामनाओं का उदय होता है, ज्योंही व्यक्ति स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से कार्य प्रारम्भ करता है; त्योंही उसका मनुष्यत्व, उसका वह गुणविशेष, जिसके बल पर वह स्वयं को मनुष्य कह सकता है, लुप्त हो जाता है, तब वह पशु बन जाता है, वासनाओं का क्रीत दास बन जाता है। उसे विस्मरण हो जाता है अपने बान्धवों का और अब वह कभी नहीं कहता, 'पहले आप और बाद में मैं'; अब उसके मुँह से निकलने लगता है, 'पहले मैं और मेरे बाद सब अपना अपना प्रबन्ध कर लें।'

हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण की शिक्षा का भी हमारे जीवन में कितना महत्त्व है। बिना इस सन्देश को हृदय में धारण किये संसार में क्षण भर भी शान्त और अकपट भाव से सानन्द कर्तव्यरत रहना असम्भव हो जायगा। कर्तव्य-पथ पर अग्रसर पुरुष को

श्रीकृष्ण के उपदेश का एक एक शब्द निर्भीक बनाता रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

"सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥"*

—अर्थात् कर्तव्यकर्म में कोई दोष होने पर भी भयभीत हो उन्हें त्याग नहीं देना चाहिए, क्योंकि संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो सर्वथा दोषमुक्त हो।

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।"§

—"अपने कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर दो और उनके फलों की चिन्ता न करो।"

दूसरी ओर, भगवान बुद्ध की अमृतमयी वाणी भी कम हृदयग्राहिणी नहीं है। ऐसा कौन पाषाणहृपय है, जो बुद्ध की इस वचनावली से प्रभावित न होगा? जग क्षणभंगुर तथा दुःखमय है। समय तीव्र गति से व्यतीत होता जा रहा है। अपने आमोदपूर्ण जीवन से सन्तुष्ट, अपने सुन्दर प्रासादों में मनोरम वस्त्राभूषणों से विभूषित हो, अनेकविध भोज्यपदार्थों से अपनी जिह्वा को तुष्ट करनेवाले, हे मोहनिद्राभिभूत नर-नारियो, क्या जीवन में तुमने कभी दाने दाने के लिए मुहताज उन लक्ष लक्ष नर-कंकालों की भी कोई चिन्ता की है, जो भूख से तड़प तड़प कर दम तोड़ देते हैं? जरा सोचो, जगत् के इस महासत्य पर विचार करो, 'सर्वं दुःखमनित्यमध्रुवम्'—संसार में चारों ओर दुःख-ही-दुःख है। देखो, संसार में पदार्पण करता हुआ शिशु भी वेदनापूर्ण रुदन करने लगता है। यह एक हृदय विदारक सत्य है। इस

---

* गीता—१८-४८

§ गीता—५-१०

दुःखमय जगत् में जन्म लेते ही वह क्रन्दन करने लगता है। संसार में रुदन के सिवा है क्या ? संसार एक रुदनस्थल है। इसलिए यदि हम तथागत के शब्दों को हृदय में स्थान देना चाहते हैं, तो हमें सम्पूर्ण रूप से स्वार्थशून्य होना होगा।

अब तनिक नाजरथनिवासी ईशदूत ईसा के उपदेशों को देखिये। उनकी शिक्षा है "प्रस्तुत रहो, स्वर्गराज्य अत्यन्त समीप है।" मैंने श्रीकृष्ण के उपदेशों का मनन किया हैं; मैं अनासक्त होकर कर्म मार्ग पर अग्रसर होने का यत्न भी करता हूँ, किन्तु कभी कभी इन उपदेशों को भूलकर मैं मोहाभिभूत हो जाता हूँ। तब इस मोहनिद्रा में हठात् तथागत की अमृतमयी वाणी हृदय में झंकृत हो उठती है—"सावधान ! संसार के सकल पदार्थ नश्वर हैं। संसार दुःखमय है। सर्वं दुःखमनित्यमध्रुवम्।" मैं सुनकर कुछ सँभलता हूँ ; पर मेरे हृदय में यह विवाद उठ खड़ा होता है कि मैं कृष्ण और बुद्ध में से किसका अनुगमन करूँ। तब मेरे कानों में ईसा की यह महान् घोषणा गूँजने लगती है, "प्रस्तुत रहो, स्वर्गराज्य अत्यन्त समीप है। एक क्षण का भी विलम्ब न होने दो। कल पर कुछ न छोड़ो और उस महान् व परम अवस्था के लिए सदा प्रस्तुत रहो, वह तुम्हारे निकट किसी भी क्षण उपस्थित हो सकती है।" ईसा के इस सन्देश का भी हमारे हृदय में उच्च स्थान है। हम आदरपूर्वक इस उपदेश को शिरोधार्य करते हैं और प्रणाम करते हैं उस महान् अवतार को, ईश्वर के उस विग्रह-रूप को, जिसने दो सहस्र वर्ष पूर्व मानवजाति को प्रेम एवं सदाचार की शिक्षा दी थी।

इसके पश्चात् हमारी दृष्टि समानता के उस महान् सन्देशवाहक पैगम्बर मुहम्मद साहब की ओर जाती है। शायद तुम

पूछोगे कि उनके धर्म में क्या अच्छाई है? पर यदि उसमें अच्छाई न होती, तो वह अद्यापि जीवित कैसे रह पाता? जो अच्छा है, कल्याणकर है, वही इस संसार में जीवित रह सकता है, शेष सब कुछ विनाश के अनन्त गह्वर में प्रवेश कर जाता है। जो कल्याणकर है, वही सबल और दृढ़ है और इसलिए वही अनन्त जीवन का भी अधिकारी होता है। इस जीवन में भी अपवित्र और दुराचारी का जीवनकाल कितना होता है? क्या पवित्र साधु व्यक्ति उससे दीर्घायु नहीं होता? निश्चित, क्योंकि साधुता ही शक्ति है, पवित्रता ही बल है। यदि इस्लाम में कोई अच्छाई, कोई शुचिता न होती, तो वह आज तक जीवित कैसे रह पाता? नहीं, इस्लाम में यथेष्ट अच्छाई है। पैगम्बर मुहम्मद साहब दुनिया में समता, बराबरी के सन्देशवाहक थे—वे मानवजाति में मुसलमानों में भ्रातृभाव के प्रचारक थे।

इस प्रकार हम देखते है कि हर अवतार, हर पैगम्बर ने दुनिया को एक न एक महान् सत्य का सन्देश दिया है। जब हम उस सन्देश का मनन करते हैं और तत्पश्चात् उसके प्रचारक महापुरुष की जीवनी का अवलोकन करते हैं, तो उस सत्य के प्रकाश में उसका सारा जीवन व्याख्यात दिखायी पड़ता है। महापुरुषों के ये शब्द उनके जीवन की सब से बड़ी व्याख्या हैं, उनके प्रकाश में उनके जीवन की एक एक घटना का महत्त्व प्रकट होने लगता है।

अज्ञ एवं बुद्धिहीन व्यक्ति अनेकविध मत-मतान्तरों की कल्पना करते हैं और अपने मानसिक विश्वास के अनुसार अपनी कल्पनाओं का समर्थन करनेवाली कई व्याख्याएँ आविष्कृत कर इन महापुरुषों पर आरोपित कर देते हैं। उनकी महान् शिक्षाओं को लेकर वे उन पर अपने मतानुसार भ्रान्त व्याख्याएँ करने

लगते हैं। किन्तु हर एक महापुरुष की जीवनी ही उसके उपदेशों का एकमात्र भाष्य है। किसी महान् आचार्य के जीवन का अवलोकन करो--उसके कार्य, उसके उपदेशों का अर्थ स्पष्ट करने लगते हैं। गीता को ही पढ़कर देखो, तुम्हें कृष्ण के जीवन और गीता के एक एक शब्द में सामंजस्य दिखेगा।

पैगम्बर मुहम्मद साहब ने अपने जीवन के दृष्टान्त से यह दिखला दिया कि मुसलमान-मात्र में सम्पूर्ण साम्य वा भ्रातृभाव रहना चाहिए। उनके धर्म में जाति, मतामत, वर्ण, लिंग आदि पर आधारित भेदों के लिए कोई स्थान न था। तुर्किस्तान का सुल्तान आफ्रिका के बाजार से एक हब्शी गुलाम खरीदकर, उसे शृंखला-बद्ध कर अपने देश में ला सकता है। किन्तु यदि यही गुलाम इस्लाम को अपना ले और उपयुक्त गुणों से विभूषित हो, तो उसे तुर्की की शाहजादी से निकाह करने का भी हक मिल जाता है। मुसलमानों की इस उदारता के साथ जरा इस देश (अमेरिका) में हब्शियों (निग्रो) एवं रेड इंडियन लोगों के प्रति किये जानेवाले घृणापूर्ण व्यवहार की तुलना तो कीजिये! हिन्दू भी और क्या करते हैं? यदि आपके देश का कोई धर्म-प्रचारक (मिशनरी) भूलकर किसी 'सनातनी' हिन्दू के भोजन को स्पर्श कर ले, तो वह उसे अशुद्ध कहकर फेंक देगा! हमारा दर्शन उच्च और उदार होते हुए भी हमारा व्यवहार, हमारा आचार हमारी कितनी दुर्बलता का परिचायक है! किन्तु अन्य धर्मावलम्बियों की तुलना में हम इस दिशा में मुसलमानों को अत्यन्त प्रगतिशील पाते हैं। जाति या वर्ण का विचार न कर, सब के प्रति समान भाव--बन्धुभाव का प्रदर्शन यही इस्लाम की महत्ता है, इसी में उसकी श्रेष्ठता है।

क्या संसार में और भी अवतार-पुरुष जन्म ग्रहण कर पृथ्वीतल को पवित्र करेंगे ? निश्चय ही अन्य एवं श्रेष्ठतर महापुरुष धरा पर अवतीर्ण होंगे । किन्तु उनके आगमन की प्रतीक्षा में मत बैठे रहो । मैं तो यह पसन्द करूँगा कि आप में से हर एक व्यक्ति सब प्राचीन संहिताओं (Old Testaments) की समष्टि-स्वरूप इस यथार्थ नवसंहिता (New Testament) के आचार्य बनें । प्राचीन काल के विभिन्न अवतारों के समस्त सन्देशों को आत्मसात् कर उन्हें अपनी अनुभूति, अपनी उपलब्धि के योग से पूर्ण बना लो और इस अन्धकाराच्छन्न युग के, इस त्रस्त मानवजाति के मसीहा बन जाओ । ये सभी अवतार महान् हैं, प्रत्येक ने हमारे लिए कुछ न कुछ वसीयत छोड़ी है, वे हमारे ईश्वर हैं । हम उनके चरणों में प्रणाम करते हैं, हम उनके क्षुद्र किंकर हैं । किन्तु इसके साथ साथ हम स्वयं को भी नमस्कार करते हैं, क्योंकि वे यदि ईश्वरतनय और अवतार हैं तो हम भी वही हैं । उन्होंने अपनी पूर्णता पहले प्राप्त कर ली है, और हम भी यहीं और इसी जीवन में पूर्णता प्राप्त कर लेंगे । ईसा के शब्दों को स्मरण करो, "स्वर्गराज्य निकट ही है ।" इसलिए इसी क्षण हम सब को यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि "मैं पैगम्बर बनूँगा; मानव जाति का मसीहा बनूँगा । मैं ज्योतिस्वरूप भगवान का सन्देशवाहक बनूँगा—मैं ईश्वरतनय बनूँगा—नहीं, मैं स्वयं ईश्वरस्वरूप बनूँगा ।"

ईशदूत ईसा

सागर में एक ओर जहाँ उत्तुंग तरंगों का नर्तन होता है, दूसरी ओर एक अथाह खाई भी होती है। उच्च तरंग उठती है, और विलीन होती है। फिर एक प्रबलतर तरंग उठती है, मुहूर्तमात्र में उसका पतन होता है और पुनः उत्थान भी। इसी प्रकार तरंग पर तरंग सागर के वक्ष पर अग्रसर होती रहती हैं। विश्व के घटनाप्रवाह में भी निरन्तर इसी प्रकार का उत्थान और पतन होता रहता है, किन्तु हमारा ध्यान केवल उत्थान की ओर जाता है, हमें पतन का विस्मरण हो जाता है। पर विश्व की गति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं—दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। यही विश्वप्रवाह की रीति है।

हमारे मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जगत् में सर्वत्र यही क्रम-गति, यही उत्थान-पतन चल रहे हैं। उसी प्रकार विश्वप्रवाह में उच्चत्तम कार्य, उदार आदर्श समय समय पर जन्म लेते हैं और जनसमूह की दृष्टि आकर्षित कर विलीन हो जाते हैं—मानो वे अतीत के भावों का परिपाक कर रहे हों, मानो प्राचीन आदर्शों का मन्थन करने को वे अदृश्य हो गये हों, जिससे ये भावसमूह, ये आदर्श, समाज में अपना योग्य स्थान पा लें, समाज के एक एक अंग के रुधिर-बिन्दु में उनका प्रवेश हो जाय और पुनः एक प्रबल एवं उच्चतर उत्थान के लिए वे शक्तिसंचय कर लें।

दुनिया के राष्ट्रों के इतिहास में भी वही गति दृग्गोचर होती है। इस महान् आत्मा का, इस ईशदूत ईसा का, जिसकी जीवनगाथा पर आज विवेचन किया जायगा, अपनी जाति के

इतिहास के एक ऐसे युग में आविर्भाव हुआ था, जिसे पतनकाल कहने में अत्युक्ति न होगी। उनके उपदेश और कार्यकलाप के किंचित् लिपिबद्ध विवेचनों की हमें यत्र तत्र कुछ झलक मात्र ही मिलती है। यह सच ही कहा गया है कि उस महापुरुष के उपदेश और कर्मवीरता की सब गाथाएँ यदि लिपिबद्ध की जातीं तो सारा विश्व उनसे व्याप्त हो जाता। उनके धर्मप्रचार-काल के तीन वर्षों में मानो एक पूर्ण युग की घटनाओं का एकत्र समावेश हुआ था, जिसके प्रकट होने में पूरी उन्नीस शताब्दियाँ लग गयी हैं, और न जाने कितने वर्ष लगेंगे! मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जन केवल क्षुद्र शक्ति के आधार हैं। कुछ क्षण, कुछ घटिकाएँ, कतिपय मास, ज्यादा से ज्यादा कुछ वर्ष——बस ये उस क्षुद्र शक्ति के व्यय के लिए, उसके पूर्ण प्रसरण और अधिकतम विकास के लिए पर्याप्त हैं; और उसके बाद हममें कुछ भी शक्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती। किन्तु हमारे इन आलोच्य महाशक्तिधर पुरुष की ओर जरा देखिये। कई शताब्दियाँ बीत गयीं, किन्तु वे जगत् में जिस शक्ति का संचार कर गये, उसका प्रसार-कार्य अभी तक रुका नहीं, उसका पूर्ण व्यय अभी तक हुआ नहीं। ज्यों ज्यों युग पर युग बीतते जा रहे हैं, त्यों त्यों वह नूतन बल से बलवती होती जा रही है।

आज हम ईसा की जीवनी में सम्पूर्ण अतीत का इतिहास देखते हैं। वैसे तो हर सामान्य मानव का जीवन भी उसके अतीत भावसमूह का इतिहास ही है। समूची जाति का यह अतीत भावसमूह प्रत्येक व्यक्ति में आनुवंशिकता, वातावरण, शिक्षा एवं पूर्व जन्म के संस्कारों द्वारा आता ही रहता है। एक प्रकार से हमारे इस जगत् की, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की इतिकथा

हर एक जीवात्मा में विद्यमान हैं। हमारा आज का वर्तमान रूप उस अनन्त अतीत के एक क्षुद्र कार्य और फल के अतिरिक्त और क्या है? अनन्त घटनाप्रवाह में अनिवार्यतया अविराम रूप से अग्रसर होनेवाली, स्थिर रहने में असमर्थ, छोटी छोटी उर्मियों के अतिरिक्त हम और क्या हैं? मैं और तुम जलप्रवाह में केवल क्षुद्र बुद्बुद हैं। विश्व-व्यापार के महासागर में कुछ विशाल तरंगें रहती ही हैं। मेरे और तुम्हारे जैसे क्षुद्र जनों में अतीत के भावसमूह का अति अल्प अंश ही व्यक्त होता है। किन्तु ऐसे शक्तिसम्पन्न महापुरुष भी होते हैं, जो प्रायः सम्पूर्ण अतीत के साकार रूप होते हैं और जो मानो अपनी दीर्घ प्रसारित बाहुओं से सुदूर भविष्य की सीमाओं को भी स्पर्श करते रहते हैं। ये महापुरुष मानवजाति के उन्नति पथ पर यत्र तत्र स्थापित मार्ग-दर्शक स्तम्भों के समान हैं। वे सचमुच इतने महान् हैं कि उनकी छाया मानो समस्त पृथ्वी को आच्छन्न कर लेती है, वे अमर, अनन्त और अविनाशी हैं। इसी महापुरुष ने कहा है, 'किसी भी व्यक्ति ने ईश्वर-पुत्र के माध्यम बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है।' और यह कथन अक्षरशः सत्य है। ईश्वरतनय के अतिरिक्त हम ईश्वर को और कहाँ देखेंगे? यह सच है कि मुझमें और तुममें, हममें से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति में भी परमेश्वर विद्यमान है, उसका प्रतिबिम्ब मौजूद है। प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसका स्पन्दन सर्वव्यापी है, किन्तु हमें उसे देखने के लिए दीप जलाने की आवश्यकता होती है। जगत् का सर्वव्यापी ईश भी तब तक दृग्गोचर नहीं होता, जब तक ये महान् शक्तिशाली दीपक, ये ईशदूत, ये उसके सन्देशवाहक और अवतार, ये नर-नारायण उसे अपने में प्रतिबिम्बित नहीं करते।

हम सब को ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है, फिर भी हम उसे देख नहीं पाते, उसे समझ नहीं पाते। ईश्वर के इन सब महान् ज्ञानज्योतिसम्पन्न अग्रदूतों में से आप किसी एक की ही जीवनकथा लीजिये और ईश्वर की जो उच्चतम भावना अपने हृदय में धारण की है, उससे उसके चरित्र की तुलना कीजिये। आपको प्रतीत होगा कि इन जीवित और जाज्वल्यमान आदर्श महापुरुषों के चरित्र की अपेक्षा आपकी भावनाओं का ईश्वर अनेकांश में हीन है, ईश्वर के अवतार का चरित्र आपके कल्पित ईश्वर की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च है। आदर्श के विग्रहस्वरूप इन महापुरुषों ने ईश्वर की साक्षात् उपलब्धि कर, अपने महान् जीवन का जो आदर्श, जो दृष्टान्त हमारे सम्मुख रखा है, ईश्वरत्व की उससे उच्च भावना धारण करना असम्भव है। इसलिए यदि कोई इनकी ईश्वर के समान अर्चना करने लगे, तो इसमें क्या अनौचित्य है? इन नर-नारायणों के चरणाम्बुजों में लुण्ठित हो यदि कोई उनकी भूमि पर अवतीर्ण ईश्वर के समान पूजा करने लगे, तो क्या पाप है? यदि उनका जीवन हमारे ईश्वरत्व के उच्चतम आदर्श से भी उच्च है, तो उनकी पूजा करने में क्या दोष? दोष की बात तो दूर रही, ईश्वरोपासना की केवल यही एक विधि सम्भव है। आप कितना ही प्रयत्न करें, पुनः पुनः सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों पर मनन करें, पर जब तक आप इस मानवजगत् में, मानवदेह में अवस्थित हैं, नरभावापन्न हैं, तब तक आपका विश्व मानवी होगा, आपका धर्म मानवी होगा और आपका ईश्वर भी मानवी होगा। उसका अन्यथा होना असम्भव है। कौन इतना निर्बुद्धि है जो प्रत्यक्ष साक्षात् वस्तु का ग्रहण न कर, कल्पनाओं के पीछे दौड़ता

फिरेगा, उन भावनाओं के साक्षात्कार के लिए खाक छानता फिरेगा, जिनकी धारणा करना भी कठिन है और जिन तक किसी स्थूल माध्यम की सहायता बिना पहुँचना सर्वथा असम्भव है ? इसलिए ईश्वर के इन अवतारों की सभी युगों एवं सभी देशों में पूजा होती रही है ।

अब हम यहूदियों के पैगम्बर, ईसा मसीह के जीवन का कुछ विवेचन करेंगे । विविध जातियों के इतिहास में हमें उत्थान और पतन का क्रम दृष्टिगत होता है । ईसा का जन्म एक ऐसे युग में हुआ, जिसे हम यहूदी जाति का पतनकाल कह सकते हैं—एक ऐसा युग, जब व्यक्तियों की विचारशक्ति कुछ शिथिल हो जाती है और वे अतीत के सपनों के नीड़ में विश्राम करने लगते हैं । जीवनप्रवाह स्थिर होकर उसमें बदबू पैदा होने लगती है, विचार संकुचित होने लगते हैं, जीवन तथा जगत् की महान् समस्याएँ दृष्टि से ओझल हो जाती हैं और जाति ने पूर्वकाल में जो उपार्जित किया है, उसीका वह क्लान्त होकर चर्वण और रक्षण करती रहती है । सारांश में, यह अवस्था दो तरंगों के उत्थान के बीच की पतनावस्था के समान ही थी । ध्यान रहे कि मैं इस अवस्था में कोई दोष नहीं देखता । हमें इसकी निन्दा करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि यदि यहूदी जाति के इतिहास में यह अवस्था न आती, तो इसके परवर्ती उत्थान की —जिसके कि नाजरथवासी ईसा मूर्तस्वरूप थे—कोई सम्भावना न रहती । भले ही फैरिसी* एवं सैडयुसी लोग कपटशील रहे

* फैरिसी (Pharisee)—यह धर्मसम्प्रदाय ईसा मसीह के आविर्भाव के समय अस्तित्व में था । इस सम्प्रदाय के लोग धर्म के यथार्थ तत्त्व की अपेक्षा बाह्य अनुष्ठानों को ही अधिक महत्त्व देते थे ।

हों, अनैतिक और अधर्मचारी रहे हों, ऐसे कार्यों में रत रहे हों जो उन्हें नहीं करने चाहिए थे, किन्तु उनके इन्हीं कार्यों की फलोपपत्ति ईसा का महान् एवं दिव्य जीवन है। जिस शक्ति को एक छोर पर फैरिसी और सैडचुसी* लोगों ने गति प्रदान की, वही दूसरे छोर पर नाजरथ-निवासी महामनीषी ईसा के रूप में प्रकट हुई ।

कई बार बाह्य धार्मिक क्रियाकलापों, रीतियों तथा छोटे छोटे विवरणों का उपहास किया जाता है, किन्तु उनमें धर्मजीवन की शक्ति निहित रहती है । कई बार प्रगतिपथ पर अग्रसर होने के लिए जल्दबाजी करने से हम अपनी धर्मशक्ति खो बैठते हैं, देखा जाता हैं कि साधारणतः उदारमना व्यक्ति की अपेक्षा धर्मान्ध व्यक्ति का मनोबल अधिक होता है । इसलिए धर्मान्ध पुरुष में भी एक बड़ा गुण है । वह अपने में मानो महान् शक्ति-राशि संचित रखता है ।

व्यक्ति के समान जाति में भी इसी प्रकार शक्तिसंचय होता है । चारों ओर बाह्य शत्रुओं से घिरी हुई, रोमन जाति के पराक्रम से प्रताड़ित हो एक केन्द्र में सन्निबद्ध, बौद्धिक जगत् में यूनानी भावसमूह द्वारा तथा फारस, भारत एवं अलेक्जान्ड्रिया से आनेवाली भाव-लहरियों से विताड़ित यह जाति प्रबल मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक शक्तियों से परिवेष्टित होने के कारण प्रचण्ड स्वाभाविक एवं स्थितिशील शक्ति का आगार हो गयी, जो अब भी उसके वंशधरों में लुप्त नहीं हुई है । बाध्य होकर इस जाति को अपनी सम्पूर्ण शक्ति जेरूसलेम और यहूदीधर्म पर केन्द्रित करनी

*सैडचुसी (Sadducee) इसी समय का एक यहूदी सम्प्रदाय। ये अभिजातवंश के थे और सन्देहवादी थे ।

पड़ी, और शक्ति की यह प्रकृति है कि एक बार संचित होने पर फिर वह एक स्थान में अधिक समय तक नहीं रह सकती ; वह अपना प्रसार कर अपने को निःशेष करने लगती है। पृथ्वी में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो दीर्घ काल तक एक सीमित स्थान में बन्दी बनायी जा सके। यह कहकर कि सुदूर भविष्य में उसका प्रसार हो जायगा, उसे एक स्थान में अति दीर्घ काल तक संकुचित कर रखना असम्भव है। यहूदी जाति की यह केन्द्रित शक्ति भी परवर्ती युग में ईसाई धर्म के उत्थान के रूप में प्रकट हुई। विभिन्न दिशाओं से आनेवाले क्षुद्र स्रोतों ने मिल-मिलकर एक स्रोतस्वती का निर्माण किया और क्रमशः उन्होंने एक तरंगशालिनी, वेगवती महानदी का रूप धारण कर लिया। इसी विशाल प्रवाह की उच्च तरंग के शिखर पर हम नाजरथ-निवासी ईसा को अधिष्ठित पाते हैं। इस प्रकार, सभी महापुरुष अपने युग के घटनाचक्र के फल या कार्यस्वरूप हैं, उनकी जाति का अतीत ही उनका निर्माण करता है, किन्तु वे स्वयं अपनी जाति के भविष्य का सृजन करते हैं। आज का कार्य अपने पूर्ववर्ती कारणसमूह का फल और भावी कार्य का कारण है। हमारे आलोच्य महापुरुष पर भी यही सिद्धान्त घटता है। ईशादूत ईसा मसीह उन सब के साकारस्वरूप हैं, जो उनकी जाति में श्रेष्ठ और उच्च हैं, जाति के उस जीवनोद्देश्य के मूर्तरूप हैं, जिसकी सिद्धि के लिए जाति ने शत शत युगों तक संघर्ष किया है, और वे स्वयं केवल अपनी ही जाति के नहीं, अपितु असंख्य जातियों के भावी जीवन के शक्तिस्रोत हैं।

और एक बात हमें यहाँ स्मरण रखनी चाहिए : इस

महान् पैगम्बर पर मेरा विवेचन प्राच्य दृष्टिकोण से होगा। कई बार आप भी यह भूल जाते हैं कि ईसा प्राच्यदेशीय थे। ईसा को नील चक्षुओं और पीत केशों के साथ चित्रित करने के आपके प्रयत्नों के बावजूद भी ईसा की प्राच्यदेशीयता में कोई अन्तर नहीं आता। बाइबिल में प्रयुक्त उपमा तथा रूपक, उसमें वर्णित स्थान एवं दृश्य, उसका दृष्किोण, उसके रहस्यमय काव्य तथा चरित-चित्रण, उसके प्रतीक, ये सब प्राच्य का ही तो संकेत करते हैं। उसमें वर्णित नीला चमकीला आकाश, ग्रीष्म का उत्ताप, प्रखर रवि, तृषार्त नर-नारी एवं खग-मृग, सिर पर घड़े ले जल भरने कुओं पर जाते हुए नरनारीगण, किसान, मेषपाल तथा कृषिकार्य, पनचक्की तथा उसके समीपवर्ती सरोवरादि---ये सब केवल एशिया ही में तो दिखायी पड़ते हैं।

एशिया की आवाज सदैव धर्म की आवाज रही है और यूरोप सदैव राजनीति की भाषा बोलता रहा है। अपने अपने क्षेत्र में दोनों ही महान् हैं। यूरोप की यह बोली प्राचीन यूनानी विचारों की प्रतिध्वनि मात्र है। यूनानी अपने समाज को ही सर्वस्व और सर्वोच्च मानते थे। उनकी दृष्टि में अन्य सब बर्बर और असभ्य थे, उनके सिवाय इतरों को जीवित रहने का अधिकार नहीं था। उनके मत में वे स्वयं जो करते थे, वही कर्तव्य था, वही श्रेष्ठ था; संसार में अन्य जो कुछ है, वह गलत है और उसको नष्ट कर देना चाहिए। उनकी सहानुभूति मानवजाति में एकान्त सीमावद्ध है, अत्यन्त स्वाभाविक है और इसलिए उनकी सभ्यता कला-कौशलमय है। यूनानी मस्तिष्क सम्पूर्णतया इहलोक का चिन्तन करता है, उसी में निवास करता है। इस संसार से बाहर के किसी भी विषय का विचार उसके

मन में कभी नहीं आता, उसका काव्य भी इसी व्यावहारिक जगत् से प्रेरणा पाता है। उसके देवी देवता भी मानव-रूप, मानव-प्रकृतिपूर्ण हैं और मानवों के साधारण सुख-दुःख से उत्पन्न नाना प्रकार के आवेगों का अनुभव करनेवाले हैं।

यूनानी को सौन्दर्य से प्यार है, पर वह ऐहिक सौन्दर्य है—प्रकृति की रमणीकता है। उसकी सौन्दर्योपासना केवल शैलराजि, शुभ्र हिमराशि, पुष्पों के सौन्दर्य, बाह्य अवयवों एवं आकृतियों के सौन्दर्य, मानवी मुख तथा उसकी सुघड़ता और सुडौलता के सौन्दर्य तक ही सीमित है। यही यूनान परवर्ती यूरोप का आचार्य था, और इसीलिए आज के यूरोप की वाणी यूनान की वाणी की एक प्रतिध्वनि मात्र है।

एशिया की आवाज इससे भिन्न है। एशियावासियों की प्रकृति कुछ और है। उस प्रकाण्ड भूमिखण्ड, उस विशाल महादेश की जरा कल्पना तो कीजिये, जिसके अभ्रंकर्ष शैल-शिखर बादलों को चीरकर आकाश की नीलिमा को चूमते रहते हैं; जिसके अंक में एक ओर अनन्त बालुकाराशि सोयी पड़ी है, जिसमें एक बूंद भी पानी मिलना असम्भव है, कोसों तक एक हरित-तृण के दर्शन होना भी दुर्लभ है, और दूसरी ओर भूमि किसी असूर्यम्पश्या राज-कन्या की भाँति है एवं विशाल वेगवती महानदियाँ अठखेलियाँ करती समुद्र की ओर बहती जाती है। चतुर्दिक प्राकृतिक सौन्दर्य से परिवेष्टित एशियावासियों का सौन्दर्य एवं महानता के प्रति प्रेम बिल्कुल भिन्न दिशा में प्रवाहित हुआ। बहिर्दृष्टि त्यागकर वे अन्तर्दृष्टिपरायण हो गये। उनमें भी प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए वही पिपासा है, शक्ति के लिए वही भूख है। यूनानियों के समान उनमें भी इतरों को असभ्य व बर्बर समझने की प्रवृत्ति है, उन्नति

की आकांक्षा है; किन्तु उनके इन भावों की परिधि विशाल और विस्तृत है। एशिया में आज भी जन्म, वर्ण या भाषा के भेद पर जातियों का संघटन आधारित नहीं है। जातियाँ धर्म पर आधारित हैं। इस प्रकार सब ईसाईयों की जाति एक होगी, सब मुसलमान एक ही जाति के होंगे और इसी प्रकार सब बौद्ध एवं हिन्दू भी एक एक जाति के होंगे। चीननिवासी एक बौद्ध फारस में रहने-वाले दूसरे बौद्ध को अपना भाई मानता है, अपनी ही जाति का अंग समझता है--केवल इसीलिए कि उन दोनों का धर्म एक है। धर्म ही मानव जाति को एक सूत्र में बाँधता है, वही एक सम्मिलन भूमि है, जहाँ विविध देशों के लोग अपने भेद भाव भूलकर परस्पर गले लगते हैं। और फिर इसी कारण एशियावासी, ये प्राची के निवासी जन्म-जात स्वप्नद्रष्टा होते हैं; स्थूल जगत् की अपेक्षा उसके परे किसी सूक्ष्म जगत् का चिन्तन करना अधिक पसन्द करते हैं। जलप्रपातों पर नाचती हुई लहरियाँ, खगकुल का कलरव, सूर्य, चन्द्र-नक्षत्र-तारा-ग्रह-संकुला रात्रि, निसर्ग आदि का सौन्दर्य उन्हें मनोरम प्रतीत होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु प्राच्य मन के लिए यह पर्याप्त नहीं है। वह वर्तमान और इहलोक के धरातल को छोड़, किसी अतीत के सपनों का सृजन करता है, किसी अतीन्द्रिय सौन्दर्य को खोलता है। वर्तमान, प्रत्यक्ष और दृश्य जगत् मानो उसके लिए कुछ है ही नहीं। युगों से प्राची कई जातियों के जीवन का रंगमंच रही है, उसने न मालूम नियतिचक्र के कितने परिवर्तन देखे हैं। उसने एक राज्य के बाद दूसरे राज्य को, एक साम्राज्य के बाद दूसरे साम्राज्य को अभ्युदित होते, उठते और फिर गिरकर मिट्टी में मिलते देखा है; मानवीय शक्ति, प्रभुत्व, ऐश्वर्य और धनराशि को अपने

कदमों में लुढ़कते और निछावर होते देखा है। अनन्त विद्या, असीम शक्ति तथा अनेकानेक साम्राज्यों की विशाल समाधि-भूमि --यह है प्राच्य भूमि का परिचय। कोई आश्चर्य नहीं, यदि प्राची के निवासी इहलोक की वस्तुओं को तिरस्कार के साथ देखें और स्वभावत: किसी ऐसी वस्तु के दर्शन की चिर-अभिलाषा उनके हृदय में अंकुरित हो जाय, जो अपरिर्तनशील हो, जो अविनाशी हो, जो इस विनाशशील एवं दु:खपूर्ण जगत् में अमर तथा नित्य-आनन्दपूर्ण हो। प्राची के महापुरुष इन आदर्शों की घोषणा करते कभी नहीं थकते--और जहाँ तक महापुरुषों एवं अवतारों का प्रश्न है, आपको स्मरण होगा कि उनमें से सभी, बिना किसी अपवाद के, प्राच्यदेशीय हैं।

इसलिए हम अपने आलोच्य महापुरुष, जीवन के इस दिव्यसन्देशवाहक के जीवन का मूलमन्त्र यही पाते हैं कि "यह जीवन कुछ नहीं है, इससे भी उच्च कुछ और है।" और इस इन्द्रियातीत तत्त्व को अपने जीवन में परिणत कर उसने यह परिचय दिया है कि वह प्राची का सच्चा पुत्र है। पाश्चात्य देशों के निवासी भी अपने कार्यक्षेत्र में—सामरिक, राजनीतिक आदि कार्यों के संचालन में अपनी दक्षता एवं व्यावहारिकता का परिचय देते हैं। शायद, पूर्व का निवासी इन सब कार्यों में इतना कर्तृत्वपूर्ण नहीं है, किन्तु अपने निज के क्षेत्र में वह भी कार्यदक्ष है—अपने जीवन को अपने धर्म पर आधारित करने में उसने भी अपनी व्यवहार-कुशलता दिखायी है। यदि वह आज किसी दर्शन का प्रचार करता है, तो देखा जायगा कि कल ही सैकड़ों नर नारी अपने जीवन में उसकी उपलब्धि करने का जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे हैं। यदि कोई व्यक्ति

उपदेश करता है कि एक पैर पर खड़े रहने से मुक्ति सम्भव है, तो उसे अल्पकाल में ही एक पैर पर खड़े रहनेवाले सैकड़ों अनुयायी मिल जायेंगे। शायद आप इसे हास्यास्पद समझते हों, किन्तु आप यह स्मरण रखें कि इसके पीछे उनके जीवन का यह मूलमन्त्र, उनका यह दर्शन विद्यमान है कि धर्म केवल विचार और मनन की वस्तु नहीं, जीवन में उसकी उपलब्धि एवं परिणति की जानी चाहिए। पाश्चात्य देशों में मुक्ति के जो विविध उपाय निर्दिष्ट किये जाते हैं, वे केवल बौद्धिक कलाबाजियाँ मात्र हैं और कभी भी उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। पश्चिम में जो प्रचारक अच्छा वक्ता है, वही श्रेष्ठ धर्मोपदेष्टा मान लिया जाता है।

अतएव, हम देखते हैं कि प्रथमतः नाजरथ-निवासी ईसा पूर्व की सच्ची सन्तान थे—धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त व्यावहारिक थे। उन्हें इस नश्वर जगत् तथा उसके क्षणभंगुर ऐश्वर्य में विश्वास नहीं था। शास्त्र-वाक्यों को तोड़-मरोड़कर व्याख्या करने की, जो कि आजकल पाश्चात्य देशों में प्रथा-सी हो गयी है, कोई आवश्यकता नहीं। शास्त्र-वाक्य कोई रबर-से लचीले नहीं हैं कि उन्हें जिधर चाहो उधर खींच लो और मरोड़ लो। और फिर खींचने-मरोड़ने की भी तो सीमा है! शास्त्रों का जो अर्थ नहीं है, वह कितनी भी खींचातानी करने पर भी कैसे निकलेगा? धर्म को वर्तमान कालीन इन्द्रिय-सर्वस्वता का समर्थक बनाना बन्द कर देना चाहिए। कम से कम हमें अपने प्रति तो सच्चे तथा अकपटी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम आदर्श का अनुगमन नहीं कर सकते, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लें, पर उसे हीन न बनायें, उसे अपने उच्च धरातल से न गिरायें।

पश्चिम के लोग, ईसा के चरित्र पर जो नित्य नये नये और विभिन्न विवेचन प्रकाशित कर रहे हैं, उनसे हृदय अवसन्न हो जाता है, इन वर्णनों से इस बात का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं होता कि ईसा क्या थे और क्या नहीं। एक उन्हें महान् राजनीतिज्ञ बनाता है, तो दूसरा कहता है, ईसा एक बड़े युद्धविशारद सेनापति थे और तीसरा कहता है, वे एक देशभक्त यहूदी थे। इन सब धारणाओं के लिए क्या इन पुस्तकों में कोई आधार है? एक श्रेष्ठ धर्माचार्य के जीवन और उपदेशों पर सर्वश्रेष्ठ भाष्य उसका निज का जीवन ही है। स्वयं ईसा ने अपने विषय में कहा है: "लोमड़ियों और शृगालों के एक एक माँद होती है, नभचारी खगकुल अपने नीड़ में निवास करते हैं, पर मानवपुत्र (ईसा) के पास अपना सिर टेकने तक के लिए कोई स्थान नहीं है।" ईसा स्वयं त्यागी और वैराग्यवान थे, इसलिए उनकी शिक्षा भी यही है कि वैराग्य और त्याग ही मुक्ति का एकमेव मार्ग है, इसके अतिरिक्त मुक्ति का और कोई पथ नहीं है, यदि हममें इस मार्ग पर अग्रसर होने की क्षमता नहीं है, तो हमें मुख में तृण धारण कर विनीत भाव से अपनी यह दुर्बलता स्वीकार कर लेनी चाहिए कि हममें अब भी 'मैं' और 'मेरे' के प्रति ममत्व है, हममें धन और ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति है। हमें धिक्कार है कि हम यह सब स्वीकार न कर, मानवजाति के उन महान् आचार्य का अन्य रूप से वर्णन कर उन्हें निम्न स्तर पर खींच लाने की चेष्टा करते हैं। उन्हें पारिवारिक बन्धन नहीं जकड़ सके। क्या आप सोचते हैं कि ईसा के मन में कोई सांसारिक भाव था? क्या आप सोचते हैं कि यह ज्ञानज्योतिःस्वरूप अमानवी मानव, यह प्रत्यक्ष ईश्वर पृथ्वी पर पशुओं का समधर्मी

बनने के लिए अवतीर्ण हुआ ? किन्तु फिर भी लोग उनके उपदेशों का अपनी इच्छानुसार अर्थ लगाकर प्रचार करते हैं। उन्हें देह-ज्ञान नहीं था, उनमें स्त्री-पुरुष भेद-बुद्धि नहीं थी—वे अपने को लिंगोपाधिरहित आत्मास्वरूप जानते थे। वे जानते थे कि वे शुद्ध आत्मस्वरूप हैं—देह में अवस्थित हो मानवजाति के कल्याण के लिए देह का परिचालन मात्र कर रहे हैं। देह के साथ उनका केवल इतना ही सम्पर्क था। आत्मा लिंगविहीन है। विदेह आत्मा का देह एवं पाशवभाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अवश्यमेव त्याग और वैराग्य का यह आदर्श साधारण जनों की पहुँच के बाहर है। कोई हर्ज नहीं, हमें अपना आदर्श विस्मत नहीं कर देना चाहिए—उसकी प्राप्ति के लिए सतत यत्नशील रहना चाहिए। हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि त्याग हमारे जीवन का आदर्श है किन्तु अभी तक हम उस तक पहुँचने में असमर्थ हैं।

मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ, इस तत्त्व की उपलब्धि के अतिरिक्त ईसा के जीवन में अन्य कोई कार्य न था, और कोई चिन्ता न थी। वे वास्तव में विदेह, शुद्ध-बृद्ध-मुक्त आत्मास्वरूप थे। यही नहीं, उन्होंने अपनी अद्‌भुत दिव्य दृष्टि से जान लिया था कि सभी नर-नारी, चाहे वे यहूदी हों या किसी अन्य इतर जाति के हों, दरिद्र हों या धनवान, साधु हों या पापात्मा, उनके ही समान अविनाशी आत्मास्वरूप हैं। इसलिए उनके जीवन में हम एकमात्र यही कार्य देखते हैं कि वे सारी मानवजाति को अपने शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यस्वरूप की उपलब्धि करने के लिए आह्वान कर रहे हैं। उन्होंने कहा, "यह कुसंस्कारमय मिथ्या भावना छोड़ दो कि हम दीन-हीन हैं। यह न सोचो कि तुम पर गुलामों के

समान अत्याचार किया जा रहा है, तुम पैरों तले रौंदे जा रहे हो, क्योंकि तुममें एक ऐसा तत्त्व विद्यमान है, जिसे पददलित तथा पीड़ित नहीं किया जा सकता, जिसका विनाश नहीं हो सकता।" तुम सब ईश्वर के पुत्र हो, अमर और अनादि हो। अपनी महान् वाणी से ईसा ने जगत् में घोषणा की "दुनिया के लोगो, इस बात को भलीभाँति जान लो कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अभ्यन्तर में अवस्थित है।"—"मैं और मेरे पिता अभिन्न हैं।" साहस कर खड़े हो जाओ और घोषणा करो कि मैं केवल ईश्वरतनय ही नहीं हूँ, पर अपने हृदय में मुझे यह भी प्रतीति हो रही है कि मैं और मेरे पिता एक और अभिन्न हैं। नाज़रथवासी ईसा-मसीह ने यही कहा। उन्होंने इस संसार और इस देह के सम्बन्ध में कभी कुछ न कहा। जगत् के साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध न था—उसके साथ सम्पर्क केवल इतना ही था कि वे उसे प्रगति पथ पर कुछ आगे की ओर बढ़ा देंगे—और धीरे धीरे तब तक अग्रसर करते रहेंगे, जब तक कि समग्र जगत् उस परम ज्योतिर्मय परमेश्वर के निकट नहीं पहुँच जाता, जब तक कि प्रत्येक मानव अपने प्रकृत स्वरूप की उपलब्धि नहीं कर लेता, जब तक कि दुःख-कष्ट तथा मृत्यु जगत् से सम्पूर्ण रूप से निर्वासित नहीं हो जाती।

ईसा के जीवन पर लिखी गयी विभिन्न परस्पर-विरोधी आख्यायिकाएँ हमने पढ़ी हैं। उनकी जीवनी के समालोचक विद्वज्जनों, उनकी ग्रन्थावलियों तथा 'उच्चत्तर भाष्यादि'$ से भी

$ उच्चतरभाष्य (Higher or Historical Criticism)-इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से बाइबिल के विभिन्न अंशों की रचना, काल तथा उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विचार-परिप्लुत साहित्य-राशि का

हमारा परिचय है। इन सब आलोचनाओं द्वारा क्या सम्पादित किया गया है इससे भी हम अज्ञ नहीं हैं। हमें यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ना है कि बाइबिल के न्यू टेस्टामेंट का कितना अंश सत्य है, अथवा उसमें वर्णित ईसा मसीह का जीवनचरित्र कहाँ तक ऐतिहासिक सत्य पर आधारित है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक न्यू टेस्टामेंट लिखा जा चुका था या नहीं, अथवा ईसा के जीवन चरित्र में कितना सत्यांश है, इससे भी हमें कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु इन सब लेखों का आधार एक ऐसी वस्तु है, जो अवश्य सत्य है, अनुकरणीय है। मिथ्या प्रलाप करने के लिए भी हमें किसी सत्य की नकल करनी पड़ती है, और सत्य सदैव वास्तविक ही होता है। जिसका कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था, उसका अनुकरण भी कैसा? जिसे किसी ने कभी देखा नहीं, उसकी नकल कैसे हो सकती है? इसलिए यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि बाइबिल की कथाएँ कितनी ही अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण क्यों न हों, उस कल्पना का अवश्य कोई आधार था—निश्चित ही उस युग में जगत् में किसी महाशक्ति का आविर्भाव हुआ था, किसी महान् आध्यात्मिक शक्ति का अपूर्व विकास हुआ था—और उसीकी आज हम चर्चा कर रहे हैं। उस महाशक्ति के अस्तित्व में जब हमें कोई सन्देह नहीं है, तब हमें पण्डितवर्ग द्वारा की गयी आलोचनाओं का क्या भय? यदि एक प्राच्यदेशीय के रूप में मैं नाजरथ-निवासी ईसा की उपासना करूँ तो मेरे लिए ऐसा करने की केवल एक ही विधि है—और वह

नाम। Textual or Verbal Criticism अर्थात् बाइबिल के वाक्य तथा शब्द राशि सम्बन्धी चर्चा से इसके पृथक् एवं उच्चतर होने के कारण इसे 'उच्चतर भाष्य' कहा गया है।

है उनकी ईश्वर के समान आराधना करना। उनकी अर्चना की और कोई विधि मैं नहीं जानता। क्या आप कहते हैं कि हमें इस प्रकार उनकी उपासना करने का अधिकार नहीं है? यदि हम ईसा को अपने ही हीन धरातल पर आसीन कर, उन्हें केवल एक महान् व्यक्ति मान उनके प्रति कुछ सम्मान प्रदर्शित करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं, तो फिर उपासना का प्रयोजन ही क्या रह गया? हमारे शास्त्र कहते हैं, "ये अनन्त-ज्योति के पुत्र-- जिनमें ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित है, जो स्वयं ब्रह्मज्योति-स्वरूप हैं--आराधित किये जाने पर हमारे साथ तादात्म्यभाव प्राप्त कर लेते हैं और हम भी उनके साथ एकत्व स्थापित कर लेते हैं।" हम देखते हैं कि मनुष्य तीन प्रकार से ईश्वरोपलब्धि कर सकते हैं। प्रथमावस्था में अविकसित मनुष्य की अपरिपक्व बुद्धि कल्पना करती है कि ईश्वर आकाश में बहुत ऊँचे, किसी स्वर्ग नामक स्थान में सिंहासनासीन हो न्यायाधीश की भाँति पाप-पुण्य का निर्णय करता है। लोग उसका 'महद्भयं वज्रमुद्यतं' के रूप में दर्शन करते हैं। ईश्वर की एवंविध भावना में भी कोई बुराई नहीं है। आपको यह स्मरण रखना चाहिए कि मानवजाति की गति सदैव एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर रही है; असत्य से--भ्रम से सत्य व यथार्थ की ओर नहीं; या यदि आप इसी भाव को अन्य शब्दों में व्यक्त करना पसन्द करें, तो मानवजाति निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर प्रयाण करती है, असत्य से सत्य की ओर नहीं। कल्पना कीजिये कि आप एक सरल रेखा में पृथ्वी से सूर्य की ओर जा रहे हैं। प्रथमतः आपको सूर्य एक लघु बिम्ब के समान दृष्टिगत होगा। किन्तु कई लक्ष कोस प्रयाण करने पर सूर्य का आकार दीर्घ से दीर्घतर होता जायगा। ज्यों

ज्यों हम अग्रसर होते रहेंगे, त्यों त्यों सूर्य अधिकाधिक दीर्घाकार दिखने लगेगा। अब यदि यात्रा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से आप सूर्य के बीस हजार छायाचित्र लें, तो वे अवश्य ही एक दूसरे से भिन्न होंगे। किन्तु क्या आप यह नहीं कहेंगे कि वे एक ही वस्तु —एक ही सूर्य के छायाचित्र हैं? इसी प्रकार भिन्न भिन्न धर्म, चाहे वे उच्चतर हों या निम्नतर, उस अनन्त ज्योतिर्मय परमेश्वर की ओर मानव के प्रयाण की भिन्न भिन्न अवस्थाएँ मात्र हैं। उनमें केवल यही भेद है कि किसी में ईश्वर की निम्नतर धारणा की गयी है और किसी में उच्चतर। इसलिए संसार की अविकसित-बुद्धियुक्त साधारण जातियों के धर्मों में सदैव ही एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की गयी है, जो भौतिक विश्व की परिधि के बाहर, स्वर्ग नामक स्थान में निवास करता है, वहीं से संसारचक्र की गति-विधि पर नियन्त्रण करता है, और पाप-पुण्य का न्याय कर मनुष्यों को दण्ड तथा पुरस्कार वितरित करता है। ज्यों ज्यों मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति करता गया, त्यों त्यों उसे यह प्रतीत होने लगा की ईश्वर सर्वव्यापी है, सारे अग-जग, सर्व चराचर में वह प्रकाशित हो रहा है, उसमें स्वयं में भी उसी ईश्वर का निवास है। उसे अनुभव होने लगा कि ईश्वर सब आत्माओं की अन्तरात्मा है और उससे दूर अवस्थित नहीं है। जिस प्रकार मेरी आत्मा मेरे शरीर का परिचालन करती है वैसे ही ईश्वर मेरी आत्मा का संचालन करता है, मेरी आत्मा में विद्यमान अन्तरात्मा है। कतिपय व्यक्तियों ने अपनी चिन्तनशक्ति द्वारा, अपनी साधना की सहायता से इतनी चित्त-शुद्धि प्राप्त कर ली, इतनी प्रगति कर ली कि वे पूर्वोक्त धारणा का अतिक्रमण कर, स्वयं ईश्वर की उपलब्धि करने में सफल हो गये। जैसा कि न्यू

टेस्टामेन्ट में कहा गया है, "ये शुदहृदय व्यक्ति धन्य हैं, क्योंकि इन्हें परमेश्वर के दर्शन हो सकेंगे।" और उन्हें अन्त में इस तत्त्व की उपलब्धि हो सकी कि वे और उनके पिता एक हैं।

आप देखेंगे कि न्यू टेस्टामेंट में मानवजाति के उस महान् आचार्य ने भी ईश्वरप्राप्ति की इस सोपान-त्रयी की ही शिक्षा दी है। उन्होंने जिस सार्वजनिक प्रार्थना (Common Prayer) की शिक्षा दी है, उसकी ओर लक्ष्य कीजिये, "हे मेरे स्वर्गनिवासी पिता, तेरे नाम का जय-जयकार हो" इत्यादि। यह सरल भावनायुक्त प्रार्थना है, एक शिशु की प्रार्थना जैसी है। देखिये यह साधारण सार्वजनिक प्रार्थना है, क्योंकि यह अशिक्षित जन-साधारण के लिए है। अपेक्षाकृत उच्चतर व्यक्तियों के लिए जो साधनमार्ग में किंचित् अधिक अग्रसर हो गये थे, ईसा ने अपेक्षाकृत उच्च साधना का उपदेश दिया है। "मैं अपने पिता में वर्तमान हूँ, तुम मुझमें वर्तमान हो और मैं तुममें वर्तमान हूँ।" क्या तुम्हें याद है यह? और फिर जब यहूदियों ने ईसा से पूछा था, "तुम कौन हो?"—तो ईसा ने अपनी महान् वाणी में घोषणा की, "मैं और मेरे पिता एक हैं।" यहूदियों ने सोचा यह धर्म की घोर निन्दा है, भगवान का घोर अपमान है। पर ईसा के कथन का अर्थ क्या था? यह भी तुम्हारे पैगम्बरगण स्पष्ट कर गये हैं: "तुम सब देव या ईश्वर हो—तुम सब उस परात्पर पुरुष की सन्तान हो।" देखिये, बाइबिल में भी इस त्रिविध सोपान का उपदेश है। आप यह भी देखेंगे कि प्रथमावस्था से आरम्भ करके धीरे धीरे अन्तिम अवस्था में आरोहण करना अपेक्षाकृत अधिक सरल और स्वाभाविक है।

ईश्वर के अग्रदूत, दैवी सन्देश-वाहक ईसा सत्योपलब्धि का

मार्ग प्रदर्शित करने अवतीर्ण हुए थे। वे हमें बताने आये थे कि नानाविध धार्मिक क्रियाकलाप, अनुष्ठानादि से आत्म-तत्त्व प्राप्त नहीं किया जा सकता, गूढ़ दार्शनिक तर्क-वितर्कों से आत्म-तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। अच्छा होता यदि तुम कोई पुस्तक न पढ़ते, अच्छा होता यदि तुम विद्याहीन होते। मुक्ति के लिए इन उपकरणों की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए धन, ऐश्वर्य और उच्च पद की जरूरत नहीं, यहाँ तक कि पाण्डित्य की भी आवश्यकता नहीं। उसके लिए केवल एक वस्तु की आवश्यकता है—और वह है शुद्धता। "शुद्धहृदय पुरुष धन्य हैं", क्योंकि आत्मा स्वयं शुद्ध है, वह अन्यथा अर्थात् अशुद्ध हो भी कैसे सकती है? ईश्वर से ही उसका आविर्भाव हुआ है, वह ईश्वर-प्रसूत है। बाइबिल के शब्दों में वह "ईश्वर का निःश्वास है।" कुरान की भाषा में वह "ईश्वर की आत्मास्वरूप है।" क्या आप कहना चाहते हैं कि ईश्वरात्मा कभी अशुद्ध हो सकती है? किन्तु दुर्भाग्य से हमारे शुभाशुभ कार्यों के कारण वह मानो सदियों के मैल, सैकड़ों वर्षों की अशुद्धि और धूलि से आवृत है; हमारे नानाविध दुष्कर्म, नानाविध अन्याय कार्य शत शत वर्षों से अज्ञानरूपी धूलि और मलिनता द्वारा उसके प्रकाश को मन्द कर रहे हैं। केवल इस धूलि और मैल की तह को उस पर से पोंछने भर की देर है कि आत्मा पुनः अपनी उज्ज्वल एवं दिव्य प्रभा से प्रकाशित हो जायगी। "शुद्धहृदय व्यक्ति धन्य हैं, क्योंकि वे ईश-दर्शन करेंगे।" "महान् स्वर्गराज्य तुम्हारे ही अन्तर में विराजमान है।" और इसीलिए नाजरथ का यह महान् पैगम्बर पूछता है "जब स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विराजमान है, जो उसे ढूँढ़ने अन्यत्र कहाँ जा रहे हो? अपनी आत्मा को मांज-

पोंछकर साफ करो, मलिनता का अपसारण करो, अवश्य तुम्हें अपनी ही आत्मा में वह विशाल स्वर्ग-राज्य दृष्टिगत होगा। वह तो पहले से ही तुम्हारी सम्पत्ति है। यदि उस पर तुम्हारा स्वत्व नहीं हैं, तो तुम कैसे उसें पा सकते हो? तुम उसके आजन्म अधिकारी हो। तुम अमरता के अधिकारी हो, तुम उस नित्य, सनातन पिता की सन्तान हो, स्वर्ग-राज्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।"

यह है उस महान् सन्देशवाहक की महान् शिक्षा। उसकी दूसरी शिक्षा है त्याग--जो प्रायः सभी धर्मों का आधार है। आत्मशुद्धि कैसे प्राप्त की जा सकती है? त्याग द्वारा। एक धनी युवक ने एक बार ईसा से पूछा, "प्रभो, अनन्त जीवन की प्राप्ति के लिए मैं क्या करूँ?" ईसा बोले, "तुममें एक बड़ा अभाव है। यहाँ से घर जाकर अपनी सारी सम्पत्ति बेच दो। जो धन प्राप्त हो, उसे गरीबों को दान कर दो। तुम्हें स्वर्ग में अक्षय धनसम्पदा प्राप्त होगी। उसके साद 'क्रास' धारण कर मेरा अनुगमन करो।" धनी युवक यह सुनकर अत्यन्त उदास हो गया और दुःखी होकर चला गया, क्योंकि अपनी अपार सम्पत्ति का मोह वह नहीं त्याग सकता था। हम सब न्यूनाधिक अंशों में उसी युवक के समान हैं। रात-दिन हमारे कानों में, यही महावाणी ध्वनित होती रहती है। हमारे आनन्द के क्षणों में, सांसारिक विषयोपभोग में, हम सोचते हैं कि हम जीवन के सब उच्चतर आदर्श भूल गये हैं, पर इस अनवरत व्यापार में जब कभी क्षण भर का विराम आता है, तो हमारे कानों में वही महाध्वनि गूँजने लगती है, "अपना सर्वस्व त्याग कर मेरा अनुसरण करो।" "जो अपनी जीवनरक्षा का प्रयत्न करेगा, वह उसे खो देगा

और जो मेरे लिए अपना जीवन खोयेगा, वह उसे पा लेगा।" जो भी अपना जीवन उन्हें समर्पित कर देगा, वही अमृतत्व-लाभ करेगा, उसे ही अमरता वरण करेगी। हमारी दुर्बलताओं के बीच, जीवन के अजस्र प्रवाह में कहीं से एक क्षण का विराम आ उपस्थित हो जाता है और पुनः उस महावाणी की घोषणा हमारे कानों में शुरू हो जाती हैं। "अपना सर्वस्व त्याग कर दो, उसे गरीबों को बाँट दो और मेरा अनुगमन करो।"

स्वार्थशून्यता, निःस्पृहता, त्याग---यही एक आदर्श हैं जिसकी ईसा मसीह ने शिक्षा दी है, जिसका दुनिया के सभी पैगम्बरों ने प्रचार किया है। इस त्याग का क्या तात्पर्य है ? त्याग का मर्म केवल यही है कि निःस्पृहता, निःस्वार्थपरता ही नैतिकता का एकमेव आदर्श है। अहं-शून्य बनो। पूर्ण निःस्वार्थ-परता -- पूर्ण अहं-शून्यता ही हमारा एकमात्र आदर्श है। और इसका दृष्टान्त है ईसा का यह वाक्य : "यदि किसी ने तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मार दिया है, तो दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दो। यदि किसी ने तुम्हारा कोट छीन लिया है, तो तुम उसे अपना चोगा भी दे दो।"

आदर्श को अपने उच्च धरातल से नीचा न करते हुए हमें उसे प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। और यह आदर्श अवस्था वह है, जिसमें मनुष्य का अहंभाव पूर्ण-तया नष्ट हो जाता है, उसका स्वत्व-भाव लुप्त हो जाता है, जब उसके लिए ऐसी कोई वस्तु नहीं रह जाती, जिसे वह 'मैं' और 'मेरी' कह सके, जब वह सम्पूर्णतया आत्म-विसर्जन कर देता है, मानो अपनी आहुति दे देता है। इस प्रकार अवस्थापन्न व्यक्ति के अन्तर में स्वयं ईश्वर निवास करते हैं, क्योंकि ऐसे

व्यक्ति की अहं-वासना पूर्ण रूप से नष्ट हो गयी है, एकदम निर्मूल हो गयी है। यह है आदर्श व्यक्ति, और यद्यपि इस आदर्शावस्था को हम प्राप्त नहीं हुए हैं, तथापि हमें इस आदर्श की पूजा करते हुए, स्खलित पदों से ही क्यों न हो, उस ओर शनैः शनैः अग्रसर होते रहना चाहिए। आज, कल या सहस्रों वर्ष के बाद हमें उस आदर्श को प्राप्त करना ही होगा, क्योंकि यह आदर्शावस्था हमारी साधना का केवल अन्त ही नहीं--हमारी साधना का मार्ग भी है। निःस्वार्थपरता, पूर्ण अहं-शून्यता साक्षात् मुक्ति है, क्योंकि अहं-शून्य होने पर भीतर का व्यक्ति मर जाता है, और अवशिष्ट रह जाता है केवल ईश्वर।

एक बात और है। मानवजाति के सभी महान् आचार्य सम्पूर्णतया स्वार्थशून्य हैं। कल्पना कीजिये कि नाजरथ के ईसा उपदेश दे रहे हैं--और इसी बीच कोई व्यक्ति उठकर पूछने लगता है, "आपका उपदेश बहुत सुन्दर है, मेरा विश्वास है कि पूर्णत्व-प्राप्ति का यही एक मार्ग है और मैं उसका अनुसरण करने को भी प्रस्तुत हूँ, किन्तु मैं ईश्वर के एकमात्र उत्पन्न पुत्र के रूप में आपकी उपासना नहीं कर सकता।" ईसा मसीह के पास इसका क्या उत्तर होगा ?--सोचिये। अवश्य ईसा उस व्यक्ति से कहते, "अच्छा भाई, आदर्श का अनुसरण करो और अपने भाव के अनुसार उस ओर प्रगति करो। तुम मुझे मेरे उपदेशों के लिए कोई श्रेय दो या न दो--मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। मैं कोई दूकानदार नहीं हूँ, बनिया नहीं हूँ। मैं धर्म का व्यवसाय नहीं करता। मैं केवल सत्य की शिक्षा देता हूँ--और सत्य किसी की बपौती--किसी की जायदाद नहीं है सत्य पर किसी का एकाधिपत्य नहीं है। सत्य स्वयं ईश्वर है। तुम अपने मार्ग पर

अग्रसर होते जाओ।" पर आज ईसा के अनुयायी उसी प्रश्न का यह जवाब देते हैं, "तुम इन उपदेशों पर, इन उसूलों पर अमल करो या न करो, उससे हमें कोई मतलब नहीं, पर तुम उपदेशक का सम्मान तो करते हो न? यदि तुम उपदेशक का सम्मान करते हो, तो अवश्य ही तुम्हारा उद्धार हो जायगा; यदि नहीं, तो तुम्हारी मुक्ति की कोई आशा नहीं।" इस प्रकार उन महापुरुष की सारी शिक्षाओं को विकृत रूप दे दिया गया है। सारे विवाद, सारे झगड़े केवल उपदेशक के व्यक्तित्व को लेकर खड़े होते हैं। वे नहीं जानते कि उपदेशक और उपदेश में इस प्रकार का भेद आरोपित कर वे उसी व्यक्ति को लांछित और अपमानित कर रहे हैं, जो उनका आदरणीय एवं पूजार्ह है, जो स्वयं इस प्रकार के विचार सुनकर लज्जा से संकुचित हो जाता। संसार में कोई उन्हें स्मरण करते हैं या नहीं, इसकी उन महापुरुष को क्या परवाह थी? उन्हें तो विश्व को एक सन्देश देना था—और वह उन्होंने दे दिया। इसके बाद यदि उन्हें बीस सहस्र जीवन भी प्राप्त होते, तो उन्हें वे दुनिया के गरीब से गरीब आदमी के लिए भी निछावर कर देते। यदि लक्ष लक्ष घृणित 'समारिया' वासियों के उद्धार के लिए उन्हें करोड़ों बार करोड़ों यातनाएँ भी सहनी पड़तीं, यदि उनमें से एक एक की मुक्ति के लिए उन्हें अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़ती, तो वे सहर्ष यह सब अंगीकार कर लेते और यह सब करते हुए उन्हें यह इच्छा छू भी न पाती कि दुनिया में किसी को उनका नाम मालूम हो। स्वयं ईश्वर जिस प्रकार कार्य करता है, वे भी उसी प्रकार शान्त, स्थिर, नीरव और अज्ञात रूप से अपना कार्य करते। लेकिन इनके अनुयायी क्या कहते हैं? वे कहते हैं—"तुम पूर्ण निःस्वार्थ और

दोषरहित ही क्यों न हो, जब तक तुम हमारे पैगम्बर, हमारे धर्माचार्य की पूजा और उनका सम्मान नहीं करोगे, तुम्हारा उद्धार नहीं होगा।" पर यह क्यों ? इस कुसंस्कार, इस अज्ञान का कारण क्या है—इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? इसका एक-मात्र कारण यही हो सकता है कि ईसा के शिष्यगण सोचते हैं —ईश्वर केवल एक ही बार अवतीर्ण हो सकता है। किन्तु यही विचार सब कुसंस्कारों, सब भ्रमों की जड़ है। ईश्वर मानवरूप में तुम्हारे सामने प्रकट हुआ है। किन्तु प्राकृतिक जगत् में जो घटनाएँ होती हैं, वे अवश्यमेव भूतकाल में भी हुई हैं और भविष्य में भी होंगी। प्रकृति में ऐसी कोई घटना नहीं है, जो नियमाधीन न हो। उसके नियमबद्ध होने का अर्थ केवल यही है कि जो घटना एक बार हुई है, वह चिरकाल से ही घटती आ रही है और भविष्य में भी घटती रहेगी।

भारतवर्ष में ईश्वरावतार के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त प्रचलित है। भारतीयों के अन्यतम अवतार श्रीकृष्ण ने, जिनकी भगवद्गीता-स्वरूप अपूर्व उपदेश-माला आपमें से अनेकों ने पढ़ी होगी, कहा है:—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥—गीता, ४।६-८

—अर्थात् "यद्यपि मैं जन्मरहित, अक्षयस्वभाव एवं इस भूतसमूह का ईश्वर हूँ, तथापि मैं अपनी प्रकृति का अधिठान कर, अपनी

माया से जन्म ग्रहण करता हूँ। हे अर्जुन ! जब जब धर्म की अवनति और अधर्म का उत्थान होता है, तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ। साधुजन के परित्राणार्थ, दुष्कार्य-रत व्यक्तियों के विनाशार्थ तथा धर्म की संस्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में जन्म ग्रहण करता हूँ।" जब संसार की अवनित होने लगती है, तो भगवान उसकी सहायता करने को अवतार लेते हैं, इस प्रकार वे विभिन्न स्थाना एवं विभिन्न युगों में आविर्भूत होते रहते हैं। दूसरे एक स्थान में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥—गीता, १४।४१

—"जहाँ कहीं किसी असाधारण शक्तिसम्पन्न तथा पवित्र आत्मा को मानवजाति के उत्थान के लिए यत्नशील देखो, तो यह जान लो कि वह मेरे ही तेज से उत्पन्न हुआ है, मैं उसके माध्यम से कार्य कर रहा हूँ।"

इसलिए हमें केवल नाजरथवासी ईसा में ही ईश्वर का दर्शन न कर विश्व के उन सभी महान् आचार्यों और पैगम्बरों में भी उनका दर्शन करना चाहिए, जो ईसा के पहले जन्म ले चुके थे, जो ईसा के पश्चात् आविर्भूत हुए हैं और जो भविष्य में अवतार ग्रहण करेंगे। हमारा सम्मान और हमारी पूजा सीमाबद्ध न हो। ये सब महापुरुष उसी एक अनन्त ईश्वर की विभिन्न अभिव्यक्ति हैं। वे सर्व शुद्ध और स्वार्थगन्धशून्य हैं, सभी ने इस दुर्बल मानवजाति के उद्धार के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया है, इसीके लिए अपना जीवन निछावर कर दिया है। वे हमारे और हमारी आनेवाली सन्तान के सब पापों को ग्रहण कर उनका प्रायाश्चित्त कर गये हैं।

एक दृष्टि से हम सभी अवतार हैं, हम सब अपने कन्धों पर संसार का भार वहन कर रहे हैं। क्या तुमने कोई ऐसा व्यक्ति देखा है, ऐसी कोई स्त्री देखी है, जो ध्यानपूर्वक, शान्ति से अपने लघु संसार, अपने जीवन का लघु भार न वहन कर रही हो ? ये महान् अवतार हमारी तुलना में अवश्य ही बहुत बड़े थे और इसलिए वे अपने कन्धों पर इस विशाल जगत् का भार उठाने में भी सफल हो सके। अवश्य उनसे तुलना करने पर हम अतिक्षुद्र और बौने प्रतीत होते हैं, किन्तु हम भी वही कार्य कर रहे हैं—हम भी अपने छोटे छोटे घरों में, अपने छोटे संसार में अपनी छोटी छोटी सुख दुःख की गठरियाँ सिर पर रख अग्रसर हो रहे हैं। कोई इतना क:पदार्थ नहीं है, कोई इतना हीन नहीं है, जो अपना भार स्वयं नहीं वहन करता। हमारी सब भ्रान्तियों, सब दुष्कृतियों, हमारे सब हीन एवं गर्हित विचारों के लांछन तथा अपवाद की कालिमा के बावजूद भी हमारे चरित्र में एक उज्ज्वल अंश है, कहीं न कहीं एक ऐसा सुवर्ण सूत्र है, जिसके द्वारा हम सदैव भगवान से संयुक्त रहते हैं। कारण, यह निश्चय ही जानो कि जिस क्षण भगवान के साथ हमारा यह संयोग नष्ट हो जायगा उसी क्षण हमारा विनाश हो जायगा। और चूंकि कभी किसी का सम्पूर्ण नाश होना असम्भव है, हम कितने ही हीन, पतित तथा दुष्कर्मरत क्यों न हों, कहीं न कहीं हमारे हृदय में —हमारे अन्तर के अन्तर्तम प्रदेश में ज्योति की एक कैसी किरण विराजमान है, जो भगवान से चिर-संयुक्त है।

विभिन्नदेशीय, विभिन्नजातीय और विभिन्न-मतावलम्बी भूतकाल के उन सब महापुरुषों को हम प्रणाम करते हैं, जिनके उपदेश और चरित्र हमने उत्तराधिकार में पाये हैं। विभिन्न

जातियों, देशों और धर्मों में जो देवतुल्य नर-नारीगण मानव-जाति के कयालण में रत हैं, उन सब को प्रणाम है। जीवन्त ईश्वर-स्वरूप जो महापुरुष भविष्य में हमारी सन्तान के लिए निःस्पृहता से कार्य करने के लिए अवतार धारण करेंगे, उन सब को प्रणाम है।

भगवान बुद्ध

(अमेरिका के डिट्राइट नामक शहर में स्वामी विवेकानन्द ने भगवान् बुद्ध पर निम्नलिखित विचार व्यक्त किये।)

हर एक धर्म में हम किसी एक प्रकार की साधना को चरम सीमा पर पहुँची हुई पाते हैं। बौद्ध धर्म में निष्काम कर्म का भाव अत्यन्त प्रबल है। आप लोग बौद्ध धर्म एवं ब्राह्मण्य धर्म का भेद नहीं समझते। बौद्ध धर्म हमारे धर्म का केवल एक सम्प्रदाय मात्र है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था, कठिन कर्मकाण्ड एवं दार्शनिक वाद-विवादों से ग्लानि हो जाने पर गौतम नामक एक महापुरुष ने बौद्ध धर्म की स्थापना की। कुछ लोग कहते हैं कि हमारा एक विशेष कुल में जन्म हुआ है और इसलिए हम उन लोगों से श्रेष्ठ हैं, जिनका जन्म ऐसे वंश में नहीं हुआ। भगवान बुद्ध का इस सिद्धान्त में कोई विश्वास न था—वे इस प्रकार के जाति-भेद के विरोधी थे। और पुरोहित लोग धर्म के नाम पर जो कपटाचरण द्वारा स्वार्थ-सिद्धि करते थे इसके भी वे घोर विरोधी थे। इसलिऐ उन्होंने एक ऐसे धर्म का प्रचार किया, जिसमें कामनाओं और वासनाओं के लिए स्थान न था। वे दर्शन तथा ईश्वर सम्बन्धी नानाविध मतवादों की आलोचना करना नहीं चाहते थे—इस सम्बन्ध में वे सम्पूर्ण अज्ञेयवादी थे।

उनसे कई बार ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गये, पर उन्होंने सदैव यही उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता।" उनसे पूछा गया कि मनुष्य का प्रकृत कर्तव्य क्या है। वे बोले, "चरित्रवान् बनो और दूसरों का भला करो।" एक बार पाँच ब्राह्मणों ने आकर उनसे विनती की, "भगवन्, हमारे वाद-

विवाद का न्याय कीजिये।" उनमें से एक ने कहा, "भगवन्, मेरे शास्त्रों में ईश्वर का यह स्वरूप बतलाया गया है और उनकी प्राप्ति के लिए यह मार्ग दर्शाया गया है।" दूसरा ब्राह्मण बोला, "नहीं, यह सब मिथ्या है, क्योंकि मेरे शास्त्र में इसके विपरीत लिखा है और ईश्वर-प्राप्ति का अन्य मार्ग बतलाया गया है।" इसी प्रकार दूसरों ने भी शास्त्रों की दुहाई देकर ईश्वर के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में अपने अपने मत प्रकट किये। बुद्धदेव यह विवाद शान्तिपूर्वक सुनकर उनसे क्रमशः पूछने लगे, "क्या किसी के शास्त्र में यह भी कथन है कि ईश्वर कभी क्रोध करता है, किसी की हानि करता है या अशुद्ध है?" वे सभी बोले, "नहीं भगवान्, हमारे सभी शास्त्र यही कहते हैं कि ईश्वर शुद्ध, विकाररहित और कल्याणकर है।" तब भगवान बुद्ध बोले, "मित्रों, तब तुम पहले शुद्ध, सदाचारी बनने की चेष्टा क्यों नहीं करते, जिससे तुम्हें ईश्वर का ज्ञान हो सके?"

मैं बौद्ध दर्शन से पूर्णतया सहमत नहीं हूँ। मुझे अपने लिए दार्शनिक विचार की यथेष्ट आवश्यकता प्रतीत होती है। मेरा बुद्ध के कई सिद्धान्तों से मतभेद है, किन्तु यह मेरे उस महान् आत्मा के चरित्र एवं भाव-सौन्दर्य के दर्शन में बाधक नहीं है। बुद्ध ही एक व्यक्ति थे, जो पूर्णतया व यथार्थ में निष्काम कहे जा सकते हैं। ऐसे अन्य कई महापुरुष थे, जो अपने को ईश्वर का अवतार कहते थे और विश्वास दिलाते थे कि जो उनमें श्रद्धा रखेंगे, वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे। पर बुद्ध के अधरों पर अन्तिम क्षण तक ये ही शब्द थे, "अपनी उन्नति अपने ही प्रयत्न से होगी अन्य कोई इसमें तुम्हारा सहायक नहीं हो सकता। स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।" अपने सम्बन्ध में भगवान बुद्ध कहा करते थे,

"बुद्ध शब्द का अर्थ है--आकाश के समान अनन्तज्ञानसम्पन्न; मुझ गौतम को यह अवस्था प्राप्त हो गयी है। तुम भी यदि प्राणपण से प्रयत्न करो, तो उस स्थिति को प्राप्त कर सकते हो।" बुद्ध ने अपनी सब कामनाओं पर विजय पा ली थी। उन्हें स्वर्ग जाने की कोई लालसा न थी और न ऐश्वर्य की ही कोई कामना थी। अपने राज-पाट और सर्वविध सुखों को तिलांजलि दे, ये राजकुमार अपना सिन्धु-सा विशाल हृदय लेकर नर-नारी तथा जीव-जन्तुओं के कल्याण के हेतु, आर्यावर्त की वीथी-वीथी में भ्रमण कर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए अपने उपदेशों का प्रचार करने लगे। जगत् में वे ही एकमात्र ऐसे थे, जो यज्ञों में पशुबलि निवारण के हेतु, किसी प्राणी के जीवन-रक्षार्थ अपना जीवन भी निछावर करने को तत्पर रहते थे। एक बार उन्होंने एक राजा से कहा, "यदि किसी निरीह पशु के होम करने से तुम्हें स्वर्गप्राप्ति हो सकती है, तो मनुष्य के होम से और किसी उच्च फल की प्राप्ति होगी। राजन्, उस पशु के पाश काटकर मेरी आहुति दे दो--शायद तुम्हारा अधिक कल्याण हो सके।" राजा स्तब्ध हो गया! इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान बुद्ध पूर्ण रूप से निष्काम थे। वे कर्मयोग के ज्वलन्त आदर्शस्वरूप थे और जिस उच्चावस्था में वे पहुँच गये थे, उससे प्रतीत होता है कि कर्म-शक्ति द्वारा भी हम उच्चतम आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं।

ईश्वर में विश्वास रखने से अनेक व्यक्तियों का मार्ग सुगम हो जाता है। किन्तु बुद्ध का चरित्र बताता है कि एक ऐसा व्यक्ति भी, जो नास्तिक है, जिसका किसी दर्शन में विश्वास नहीं, जो न किसी सम्प्रदाय को मानता है और न किसी मन्दिर-

मस्जिद में ही जाता है, जो घोर जड़वादी है, परमोच्च अवस्था प्राप्त कर सकता है। बुद्ध के मतामत या कार्यकलापों का मूल्यांकन करने का हमें कोई अधिकार नहीं। उनके विशाल हृदय का सहस्रांश पाकर भी मैं स्वयं को धन्य मानता। बुद्ध की आस्तिकता या नास्तिकता से मुझे कोई मतलब नहीं। उन्हें भी वह पूर्णावस्था प्राप्त हो गयी थी, जो अन्य जन भक्ति, ज्ञान या योग के मार्ग से प्राप्त करते हैं। केवल इसमें-उसमें विश्वास करने से ही पूर्णता प्राप्त नहीं होती, जल्पना से कोई अर्थ-सिद्धि नहीं होती। यह तो शुक-सारिका भी कर लेते हैं। केवल निष्काम कर्म ही मनुष्य को पूर्णत्व तक पहुँचा सकता है।

श्रीरामकृष्ण—विवेकानन्द साहित्य

श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग— स्वामी सारदानन्दकृत सुविस्तृत
मूल बंगला जीवनी से अनुवादित
प्रथम खण्ड रु. ९, द्वितीय खण्ड रु. १० तृतीय खण्ड रु. ७

श्रीरामकृष्णलीलामृत (जीवन चरित) प्रथम भाग ५.५०
द्वितीय भाग ६.००

श्रीरामकृष्णवचनामृत—'म' कृत; श्रीरामकृष्ण के अमृतमय
उपदेशों का अपूर्व संग्रह; 'निराला' द्वारा
अनुवादित; सुन्दर जैकेटसहित, सचित्र
प्रथम भाग रु. ७.०० द्वितीय भाग रु. ६.५० तृतीय भाग ७.००

श्रीरामकृष्ण उपदेश—(पाकेट साइज) १.००

माँ सारदा—श्रीरामकृष्णदेव की लीलासहधर्मिणी की विस्तृत
जीवनी। स्वामी अपूर्वानन्दकृत; सचित्र, सजिल्द ६.००

श्रीरामकृष्ण और श्री माँ—स्वामी अपूर्वानन्दकृत ३.६०

शिवानन्द स्मृति-संग्रह–(प्रथम भाग)—स्वामी अपूर्वानन्द संकलित ७.५०

आचार्य शंकर—स्वामी अपूर्वानन्द ४.५०

विवेकानन्द-चरित—सत्येन्द्रनाथ मजुमदार कृत—सुविस्तृत, प्रामाणिक
जीवनी; सजिल्द, सचित्र ७.००

धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द—भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग
शिष्य द्वारा धर्म के गूढ़ तत्त्वों पर वार्तालाप ५.५०

भगवान रामकृष्ण, धर्म तथा संघ—श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग
शिष्यों द्वारा लिखित १.००

रामकृष्ण-संघ—आदर्श और इतिहास— (पाकेट साइज)
—स्वामी तेजसानन्दकृत १.५०

गीतातत्त्व—स्वामी सारदानन्द ३.३०

भारत में शक्तिपूजा—स्वामी सारदानन्द १.७०

वेदान्त - सिद्धान्त और व्यवहार—स्वामी सारदानन्द ०.५०

परमार्थ प्रसंग—स्वामी विरजानन्द ३.५०

विवेकानन्द ग्रन्थावली

विवेकानन्द संचयन—विवेकानन्दजी की बृहत् साहित्यसामग्री से चुने हुए महत्वपूर्ण व्याख्यान, लेख, पत्र, कविताओं आदि का प्रातिनिधिक संचयन ७.५०

विवेकानन्दजी के संग में—शिष्य के साथ आध्यात्मिक तथा मानवजीवन सम्बन्धी अन्य सभी महत्वपूर्ण विषयों पर वार्तालाप ६.५०

पत्रावली—धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज, राष्ट्रोन्नति इत्यादि सम्बन्धी स्फूर्तिदायक पत्र
प्रथम भाग ५.२५
द्वितीय भाग ४.२५

भारत में विवेकानन्द—(भारतीय व्याख्यान) ५.२५

ज्ञानयोग— ३.७५

राजयोग—(पातंजल योगसूत्र सूत्रार्थ और व्याख्यासहित) ४.००

प्रेमयोग २.००

कर्मयोग २.००

भक्तियोग १.५०

ज्ञानयोग पर प्रवचन ०.९०

सरल राजयोग ०.६०

देववाणी (उच्च आध्यात्मिक उपदेश) ३.००

भगवान् बुद्ध का संसार को सन्देश एवं अन्य व्याख्यान और प्रवचन २.२५

स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप २.१५

विवेकानन्दजी की कथाएँ १.८०

विवेकानन्दजी के सान्निध्य में १.३५

धर्म विज्ञान २.००

धर्मतत्त्व १.७०

धर्मरहस्य १.२५

व्यावहारिक जीवन में वेदान्त १.६५

भगवान् श्रीकृष्ण और भगवद्गीता १.८०

कवितावली १.६५

सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार १.६५

आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग १.७५

स्वाधीन भारत ! जय हो ! १.६०

परिव्राजक (मेरी भ्रमण कहानी) १.७५

हिन्दू धर्म २.१०

हिन्दू धर्म के पक्ष में ०.७५

शिकागो वक्तृता ०.६५

चिन्तनीय बातें १.४०

भारतीय नारी १.५०

भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबन्ध १.३०

जाति, संस्कृति और समाजवाद १.५०

प्राच्य और पाश्चात्य १.७०

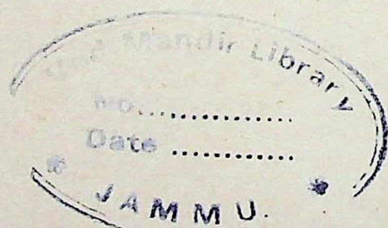
विविध प्रसंग २.००

मेरे गुरुदेव १.००

नारद-भक्तिसूत्र एवं भक्तिविषयक प्रवचन और आख्यान १.००

पवहारी बाबा ०.६०

श्रीरामकृष्ण आश्रम धन्तोली, नागपुर - १.


Mandir Library
Date
JAMMU.